प्यारे बच्चो!

यदि कोई आपको अनुचित ढंग से स्पर्श करे और यह स्पर्श आपको अच्छा न लगे तो, आप चुप न रहें। आप

1. स्वयं को इसका दोष न दें;
2. इस बारे में किसी ऐसे व्यक्ति को बताएँ जिस पर आप भरोसा करते हो;
3. आप पॉक्सो ई.बॉक्स के माध्यम से राष्ट्रीय बाल अधिकार संरक्षण आयोग को भी इस बारे में सूचित कर सकते हैं।

जब आपको कोई अनुचित ढंग से स्पर्श करता है तो आपको बुरा लग सकता है, आप दुविधाग्रस्त और असहाय अनुभव कर सकते हैं
आपको "बुरा" अनुभव करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आपकी गलती नहीं है

इस बटन को दबाएँ

पॉक्सो ई.बॉक्स NCPCR@gov.in पर उपलब्ध है।

यदि आपकी आयु 18 वर्ष से कम है और आप मुसीबत में हैं अथवा दुविधाग्रस्त हैं अथवा आपके साथ दुर्व्यवहार किया गया है अथवा संकट में हैं अथवा किसी ऐसे बच्चे को जानते हैं...

1098 पर कॉल करें...क्योंकि कुछ अच्छे नंबर जीवन बदल देते हैं।

चाइल्ड लाइन 1098 - विपत्ति में बच्चों के लिए 24 घंटे निःशुल्क राष्ट्रीय आपातकालीन फ़ोन सेवा, महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के सहयोग से चाइल्ड लाइन इंडिया फ़ाउंडेशन की पहल है।

फिलैटली

एस. पी. चैटर्जीया

रु. 26.50/पेज 92/1990

तेनज़िंग नोरगे

दुर्गा प्रसाद शुक्ल

रु. 4.90/पेज 92

अधिक जानकारी के लिए कृपया www.ncert.nic.in देखिए अथवा कॉपीराइट पृष्ठ पर दिए गए पतों पर व्यापार प्रबंधक से संपर्क करें।

सामाजिक विज्ञान

हमारे अतीत – III

भाग – 2

कक्षा 8 के लिए
इतिहास की पाठ्यपुस्तक

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संस्करण
सितम्बर 2008 आश्विन 1930

पुनर्मुद्रण
जनवरी 2009 माघ 1930
जनवरी 2010 माघ 1931
जून 2012 ज्येष्ठ 1934
मार्च 2013 फाल्गुन 1934
जनवरी 2014 पौष 1935
दिसंबर 2014 पौष 1936
जनवरी 2016 पौष 1937
दिसंबर 2016 पौष 1938
जनवरी 2018 माघ 1939

PD 80T RPS

₹ 50.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटरमार्क 80 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन प्रभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा पब्लिक प्रिंटिंग (दिल्ली) सर्विस, सी-80, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया फ़ेज-I, नयी दिल्ली-110 020 द्वारा मुद्रित।

ISBN 978-81-7450-847-8

एन सी ई आर टी के प्रकाशन प्रभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस
श्री अरविंद मार्ग
नयी दिल्ली 110 016 फोन : 011-26562708

108, 100 फीट रोड
हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे
बनाशंकरी III स्टेज
बेंगलुरु 560 085 फोन : 080-26725740

नवजीवन ट्रस्ट भवन
डाकघर नवजीवन
अहमदाबाद 380 014 फोन : 079-27541446

सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस
निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी
कोलकाता 700 114 फोन : 033-25530454

सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स
मालीगांव
गुवाहाटी 781021 फोन : 0361-2674869

प्रकाशन सहयोग

अध्यक्ष, प्रकाशन प्रभाग : *एम. सिराज अनवर*
मुख्य संपादक : *श्वेता उप्पल*
मुख्य व्यापार प्रबंधक : *गौतम गांगुली*
मुख्य उत्पादन अधिकारी (प्रभारी) : *अरुण चितकारा*
संपादक : *नरेश यादव*
उत्पादन सहायक : *ओम प्रकाश*

आवरण एवं सज्जा
आर्ट क्रिएशन्स

कार्टोग्राफी
कार्टोग्राफिक डिज़ाइन एजेंसी

आमुख

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) सुझाती है कि बच्चों के स्कूली जीवन को बाहर के जीवन से जोड़ा जाना चाहिए। यह सिद्धांत किताबी ज्ञान की उस विरासत के विपरीत है जिसके प्रभाववश हमारी व्यवस्था आज तक विद्यालय और घर के बीच अंतराल बनाए हुए है। नयी राष्ट्रीय पाठ्यचर्या पर आधारित पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें इस बुनियादी विचार पर अमल करने का प्रयास हैं। इस प्रयास में हर विषय को एक मज़बूत दीवार से घेर देने और जानकारी को रटा देने की प्रवृत्ति का विरोध शामिल है। आशा है कि ये कदम हमें राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) में वर्णित बाल-केंद्रित व्यवस्था की दिशा में काफ़ी दूर तक ले जाएँगे।

इस प्रयत्न की सफलता अब इस बात पर निर्भर है कि विद्यालयों के प्राचार्य और अध्यापक बच्चों को कल्पनाशील गतिविधियों और सवालों की मदद से सीखने और सीखने के दौरान अपने अनुभवों पर विचार करने का अवसर देते हैं। हमें यह मानना होगा कि यदि जगह, समय और आज़ादी दी जाए तो बच्चे बड़ों द्वारा सौंपी गयी सूचना-सामग्री से जुड़कर और जूझकर नए ज्ञान का सृजन करते हैं। शिक्षा के विविध साधनों एवं स्रोतों की अनदेखी किए जाने का प्रमुख कारण पाठ्यपुस्तक को परीक्षा का एकमात्र आधार बनाने की प्रवृत्ति है। सर्जना और पहल को विकसित करने के लिए ज़रूरी है कि हम बच्चों को सीखने की प्रक्रिया में पूरा भागीदार मानें और बनाएँ, उन्हें ज्ञान की निर्धारित खुराक का ग्राहक मानना छोड़ दें।

ये उद्देश्य स्कूल की दैनिक ज़िंदगी और कार्यशैली में काफ़ी फेरबदल की माँग करते हैं। दैनिक समय-सारणी में लचीलापन उतना ही ज़रूरी है जितनी वार्षिक कैलेंडर के अमल में चुस्ती, जिससे शिक्षण के लिए नियत दिनों की संख्या हकीकत बन सके। शिक्षण और मूल्यांकन की विधियाँ भी इस बात को तय करेंगी कि यह पाठ्यपुस्तक विद्यालय में बच्चों के जीवन को मानसिक दबाव तथा बोरियत की जगह खुशी का अनुभव बनाने में कितनी प्रभावी सिद्ध होती है। बोझ की समस्या से निपटने के लिए पाठ्यक्रम निर्माताओं ने विभिन्न चरणों में ज्ञान का पुनर्निर्धारण करते समय बच्चों के मनोविज्ञान एवं अध्यापन के लिए उपलब्ध समय का ध्यान रखने की पहले से अधिक सचेत कोशिश की है। इस कोशिश को और गहराने के यत्न में यह पाठ्यपुस्तक सोच-विचार और विस्मय, छोटे समूहों में विचार-विमर्श और ऐसी गतिविधियों को प्राथमिकता देती है जिन्हें करने के लिए व्यावहारिक अनुभवों की आवश्यकता होती है।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् इस पुस्तक की रचना के लिए बनायी गयी पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति के परिश्रम के लिए कृतज्ञता व्यक्त करती है। परिषद् सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक सलाहकार समिति के अध्यक्ष प्रोफ़ेसर हरि वासुदेवन और इस पाठ्यपुस्तक समिति की मुख्य सलाहकार विभा पार्थसारथी की विशेष आभारी है। इस पाठ्यपुस्तक के विकास में कयी शिक्षकों ने योगदान किया, इस योगदान को संभव बनाने के लिए हम उनके प्राचार्यों के आभारी हैं। हम उन सभी संस्थाओं और संगठनों के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने संसाधनों, सामग्री और सहयोगियों की मदद लेने में हमें उदारतापूर्वक सहयोग दिया। हम माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा विभाग, मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा प्रोफ़ेसर मृणाल मीरी एवं प्रोफ़ेसर जी.पी. देशपांडे की अध्यक्षता में गठित निगरानी समिति (मॉनिटरिंग कमेटी) के सदस्यों को अपना मूल्यवान समय और सहयोग देने के लिए धन्यवाद देते हैं।

व्यवस्थागत सुधारों और अपने प्रकाशनों में निरंतर निखार लाने के प्रति समर्पित राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् टिप्पणियों एवं सुझावों का स्वागत करेगी जिनसे भावी संशोधनों में मदद ली जा सके।

निदेशक
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति

अध्यक्ष, सामाजिक विज्ञान पाठ्यपुस्तक सलाहकार समिति

हरि वासुदेवन, *प्रोफ़ेसर*, इतिहास विभाग, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता

मुख्य सलाहकार

नीलाद्रि भट्टाचार्य, *प्रोफ़ेसर*, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

सदस्य

अर्चना प्रसाद, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, जवाहरलाल नेहरू अध्ययन केंद्र, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नयी दिल्ली

अंजलि खुल्लर, *पीजीटी* (इतिहास) केम्ब्रिज स्कूल, नयी दिल्ली

अनिल सेठी, *प्रोफ़ेसर*, सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

जानकी नायर, *प्रोफ़ेसर*, सामाजिक विज्ञान अध्ययन केंद्र, कोलकाता

तनिका सरकार, *प्रोफ़ेसर*, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

ताप्ती गुहा-ठाकुरता, *प्रोफ़ेसर*, सामाजिक विज्ञान अध्ययन केंद्र, कोलकाता

प्रभु मॉहापात्रा, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

रामचन्द्र गुहा, *स्वतंत्र लेखक*, मानवशास्त्री एवं इतिहासकार, बेंगलुरु

रश्मि पालीवाल, एकलव्य, होशंगाबाद, मध्य प्रदेश

संजय शर्मा, *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, ज़ाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली

सतविन्दर कौर, *पीजीटी* (इतिहास), केंद्रीय विद्यालय संख्या 1, जालंधर, पंजाब

स्मिता सहाय भट्टाचार्य, *पीजीटी* (इतिहास), ब्ल्यूबेल्स स्कूल, नयी दिल्ली

एम.सिराज अनवर, *प्रोफ़ेसर*, पीपीएमईडी, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

हिंदी अनुवाद

योगेंद्र दत्त, सराय-सी.एस.डी.एस., दिल्ली

सदस्य-समन्वयक

रीतू सिंह, *असिस्टेंट प्रोफ़ेसर* (इतिहास), सामाजिक विज्ञान शिक्षा विभाग, एनसीईआरटी, नयी दिल्ली

आभार

यह पुस्तक बहुत सारे इतिहासकारों, शिक्षाविदों और शिक्षकों की सामूहिक कोशिशों का फल है। इन अध्यायों के लेखन और संशोधन में कई माह लगे हैं। ये अध्याय कार्यशालाओं में हुई चर्चाओं और ई-मेल पर हुए विचारों के आदान-प्रदान से उपजे हैं। इस प्रक्रिया में प्रत्येक सदस्य ने प्रकारांतर से अपनी क्षमता के अनुरूप योगदान दिया है।

बहुत सारे व्यक्तियों और संस्थानों ने इस किताब को तैयार करने में मदद दी। प्रोफ़ेसर मुज़फ़्फ़र आलम और डॉ. कुमकुम रॉय ने इसके मसविदे पढ़े और बदलाव के लिए कई अहम सुझाव दिए। किताब में दिए गए चित्रों के लिए हमने कई संस्थाओं के संग्रहों का इस्तेमाल किया। दिल्ली शहर और 1857 की घटनाओं के बहुत सारे चित्र अल्काज़ी फ़ाउंडेशन फ़ॉर दि आर्ट्स से लिए गए हैं। ब्रिटिश राज के बारे में लिखी गयी उन्नीसवीं सदी की बहुत सारी सचित्र पुस्तकें इंडिया इंटरनैशनल सेंटर के बहुमूल्य इंडिया कलेक्शन का हिस्सा थीं। हम सुनील जाना साहब के प्रति कृतज्ञ हैं जिन्होंने नब्बे साल की उम्र पार करने के बाद भी अपने चित्रों को छाँटने में मदद और उन्हें पुनः प्रकाशित करने की अनुमति दी। चालीस के दशक की शुरुआत से ही वह आदिवासी क्षेत्रों की पड़ताल कर रहे हैं और उन्होंने असंख्य समुदायों के दैनिक जीवन को अपने कैमरे में दर्ज किया है। इनमें से कुछ चित्र अब प्रकाशित हो चुके हैं (द ट्राइबल्स ऑफ़ इंडिया, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003) तथा बहुत सारे चित्र इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र में सुरक्षित हैं।

परिषद् पाठ्यपुस्तक के निर्माण में उल्लेखनीय सहयोग देने हेतु अनिल शर्मा, *डी.टी.पी. ऑपरेटर;* सतीश झा, *कॉपी एडिटर* तथा दिनेश कुमार, *कंप्यूटर स्टेशन इंचार्ज* का भी हार्दिक आभार व्यक्त करती है। इसी संदर्भ में प्रकाशन विभाग, एन.सी.ई.आर.टी. का सहयोग भी प्रशंसनीय है।

यहाँ हमने सभी के आभारज्ञापन का प्रयास किया है लेकिन अगर किसी व्यक्ति या संस्था का नाम छूट गया है तो इस भूल के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

विषय सूची

आमुख — *iii*

7. बुनकर, लोहा बनाने वाले और फैक्ट्री मालिक — 79
8. "देशी जनता" को सभ्य बनाना राष्ट्र को शिक्षित करना — 95
9. महिलाएँ, जाति एवं सुधार — 108
10. दृश्य कलाओं की बदलती दुनिया — 123
11. राष्ट्रीय आंदोलन का संघटनः 1870 के दशक से 1947 तक — 141
12. स्वतंत्रता के बाद — 160
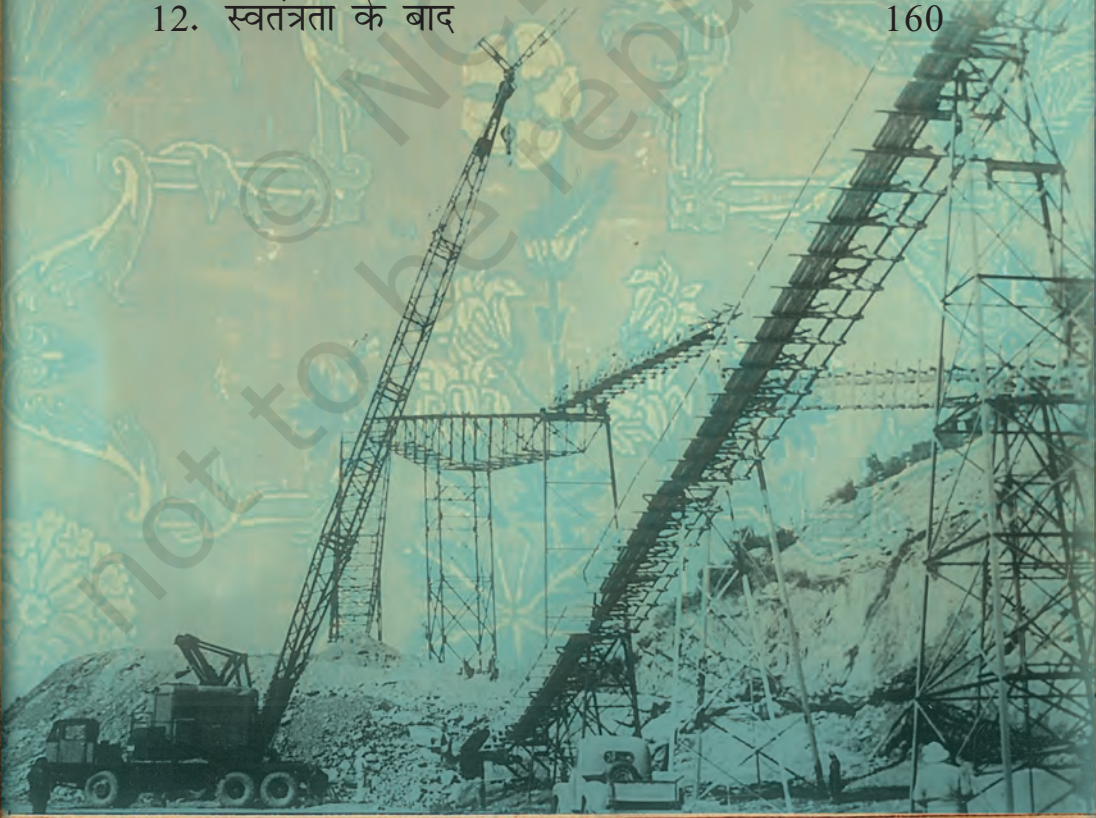
भाग 1 की विषय सूची

1. कैसे, कब और कहाँ — 1
2. व्यापार से साम्राज्य तक — 9
   कंपनी की सत्ता स्थापित होती है
3. ग्रामीण क्षेत्र पर शासन चलाना — 26
4. आदिवासी, *दीकु* और एक स्वर्ण युग की कल्पना — 39
5. जब जनता बग़ावत करती है — 51
   1857 और उसके बाद
6. उपनिवेशवाद और शहर — 64
   एक शाही राजधानी की कहानी

7 बुनकर, लोहा बनाने वाले और फैक्ट्री मालिक

चित्र 1 – सत्रहवीं सदी में सूरत बंदरगाह पर व्यापारिक जहाज़।

भारत के पश्चिमी तट पर गुजरात स्थित सूरत हिंद महासागर के रास्ते होने वाले व्यापार के सबसे महत्त्वपूर्ण बंदरगाहों में से एक था। डच और ब्रिटिश व्यापारिक जहाज़ सत्रहवीं सदी की शुरुआत से ही इस बंदरगाह का इस्तेमाल करने लगे थे। अठारहवीं सदी में इस बंदरगाह का महत्त्व गिरने लगा।

इस अध्याय में हम कपड़ा और लोहा व इस्पात उद्योग, इन दो उद्योगों का विशेष अध्ययन करते हुए देखेंगे कि ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारतीय कारीगरी और उद्योगों की दशा क्या थी। आधुनिक विश्व में औद्योगिक क्रांति की दृष्टि से ये दोनों ही उद्योग बहुत महत्त्वपूर्ण थे। सूती कपड़े के मशीनी उत्पादन ने ही उन्नीसवीं सदी में ब्रिटेन को दुनिया का सबसे प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र बना दिया था। 1850 के दशक से जब ब्रिटेन का लोहा और इस्पात उद्योग भी पनपने लगा तो ब्रिटेन "दुनिया का कारखाना" कहलाने लगा।

ब्रिटेन के औद्योगीकरण और भारत पर ब्रिटिश विजय और उपनिवेशीकरण में गहरा संबंध था। आप अध्याय 2 में देख चुके हैं कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापारिक हितों की रक्षा करने के लिए किस तरह भारतीय भूभागों पर क़ब्ज़े हुए और किस तरह व्यापार का ढाँचा बदलता गया। अठारहवीं सदी के आखिर में ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत से चीज़ें खरीदती थी और उन्हें इंग्लैंड व यूरोप में ले जाकर बेच देती थी। इसी क्रय-विक्रय से उसे भारी मुनाफा होता था। जैसे-जैसे ब्रिटेन का औद्योगिक उत्पादन बढ़ने लगा, वहाँ के उद्योगपति भारत को अपने औद्योगिक उत्पादों के विशाल बाज़ार के रूप में देखने लगे। इस तरह, ब्रिटेन से तैयार माल भारत के बाज़ारों में आने लगा। इससे भारतीय शिल्पों और उद्योगों पर किस तरह के असर पड़े? प्रस्तुत अध्याय में हम इसी सवाल पर चर्चा करेंगे।

भारतीय कपड़े और विश्व बाज़ार

चित्र 2 – पटोला बुनाई, उन्नीसवीं सदी के मध्य में।

पटोला बुनाई सूरत, अहमदाबाद और पाटन में होती थी। इंडोनेशिया में इस बुनाई का भारी बाज़ार था और वहाँ यह स्थानीय बुनाई परंपरा का हिस्सा बन गई थी।

आइए पहले कपड़ा उत्पादन पर नज़र डालें।

बंगाल पर अंग्रेज़ों की विजय से पहले 1750 के आस-पास भारत पूरी दुनिया में कपड़ा उत्पादन के क्षेत्र में औरों से कोसों आगे था। भारतीय कपड़े लंबे समय से अपनी गुणवत्ता और बारीक कारीगरी के लिए दुनिया भर में मशहूर थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया (जावा, सुमात्रा और पेनांग) तथा पश्चिमी एवं मध्य एशिया में इन कपड़ों का भारी व्यापार था। सोलहवीं शताब्दी से यूरोप की व्यापारिक कम्पनियाँ यूरोप में बेचने के लिए भारतीय कपड़े खरीदने लगी थीं। इस फलते-फूलते व्यापार और भारतीय बुनकरों के हुनर की यादें अंग्रेज़ी और अन्य भाषाओं के बहुत सारे शब्दों में आज भी जिंदा हैं। ऐसे शब्दों की जड़ों को ढूँढ़ना और उनके अर्थ जानना बड़ा मज़ेदार है।

शब्दों में इतिहास छिपा है

यूरोप के व्यापारियों ने भारत से आया बारीक सूती कपड़ा सबसे पहले मौजूदा ईराक के मोसूल शहर में अरब के व्यापारियों के पास देखा था। इसी आधार पर वे बारीक बुनाई वाले सभी कपड़ों को "मस्लिन" (मलमल) कहने लगे। जल्दी ही यह शब्द खूब प्रचलित हो गया। मसालों की तलाश में जब पहली बार पुर्तगाली भारत आए तो उन्होंने दक्षिण-पश्चिमी भारत में केरल के तट पर कालीकट में डेरा डाला। यहाँ से वे मसालों के साथ-साथ सूती कपड़ा भी लेते गए। कालीकट से निकले शब्द को "कैलिको" कहने लगे। बाद में हर तरह के सूती कपड़े को कैलिको ही कहा जाने लगा।

ऐसे बहुत सारे शब्द हैं जो पश्चिमी बाज़ारों में भारतीय कपड़ों की लोकप्रियता की कहानी कहते हैं। चित्र 3 में आप एक ऑर्डर बुक का पन्ना देख सकते हैं जिसे 1730 में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कलकत्ता स्थित अपने नुमाइंदों के पास भेजा था।

बही के मुताबिक, उस साल कपड़े के 5,89,000 थानों का ऑर्डर मिला था। यदि आप इसी बही के पन्नों को पलटते तो आपको पता चलता कि उसमें सूती और रेशमी कपड़े की 98 किस्मों का ज़िक्र किया गया है। यूरोपीय व्यापारी उन्हें पीस गुड्स कहते थे जो आम तौर पर 20 गज लंबा और 1 गज चौड़ा थान होता था।

List of Goods to be Provided in the Bay of Bengall for the Ships going out in the Year 1730.

		Pieces	£	Ton
Addaties	of low Prices, Six thousand Pieces	6000	2200	8 4/7
Ditto	Fine, with Gold Heads, Three thousand	3000	1500	4 2/7
Alliballies	low Prices, Five hundred	500	650	1 1/4
Baftaes	of low Prices, Eighteen Yards long, Six thousand	6000	1875	13 1/2
Ditto	very fine with Gold heads, Fifteen hundred	1500	625	3 3/4
Ditto Jugdea	of Twelve Yards long such as receiv'd by the Heathcote, Ten thousand	10000	3625	18 3/4
Bandanoes	or Taffa de Foolas, as by the Eyles, Six thousand	6000	3072	7 1/2
Carridarries	very good, such as the Fine Bale by the Heathcote, or else none) One thousand	1000	483	1 2/3
Carridarric	Sannoes, One thousand	1000	470	1 2/3
Chillaes	of the same goodness as the finest that came by the Heathcote, Three thousand	3000	750	5
Chowtars	of the low Price Sort, as by the Heathcote, Four thousand	4000	1060	6 2/3
Coopees	Two thousand	2000	880	3 1/3
Chints Patna	as directed last Year, Thirty thousand, and that Twenty thousand of them be glazed, and the following Chints in proportion	30000	12000	73 3/4
Ditto Cossimbuzar	Ten thousand	10000	812	14
Ditto Calcutta	as Order'd last Year, Six thousand	6000	1254	6
Cuttannees	Atlass Plain, well Cover'd, and good variety of Stripes and Colours, One thousand	1000	700	1 1/4
Ditto	Strip'd and Flower'd, also well Cover'd, Five hundred	500	500	5/8
Cossaes	Fine, Yard and half broad, with Gold heads, at least as good as those by the Heathcote, Four thousand	4000	7000	10
Ditto	of an inferiour Sort, better than the Heathcote, Six thousand	6000	6000	15
Ditto	Fine, Yard and three eighths broad with Gold head, better than the Heathcote, Two thousand	2000	4000	5
Ditto	of an inferiour Sort, Two thousand	2000	1750	5
Ditto Orua	Yard and eighth to Yard and three sixteenths broad, Fifteen thousand	15000	12750	37 1/2
Ditto	Yard broad, of the lowest Prices, Eight thousand	8000	4440	20
Ditto Chartpoore	Yard broad as by the Heathcote, Two thous.d	2000	4000	5
Ditto	of the same Fabrick of a lower Sort, Two thousand	2000	2500	5

Cossaes Sorry

चित्र 3 *– ईस्ट इंडिया कंपनी की ऑर्डर बही का एक पन्ना, 1730*

ग़ौर से देखें कि बही में किस तरह एक-एक चीज़ की कीमत लंदन में ही तय कर दी गई थी। ये सामान मँगाने के लिए कंपनी को दो साल पहले ऑर्डर देने पड़ते थे क्योंकि ऑर्डर को भारत भेजने, ज़रूरी कपड़े बनवाने और उन्हें वापस भिजवाने में इतना समय तो लग ही जाता था। जब कपड़े के थान लंदन पहुँच जाते थे तो उन्हें नीलामी के ज़रिए बेच दिया जाता था।

आइए अब इसी बही में दी गई विभिन्न किस्मों के नामों को देखें। थोक में जिन कपड़ों का ऑर्डर दिया गया था उनमें छापेदार सूती कपड़े भी शामिल थे। उन्हें ये व्यापारी शिंट्ज़, कोसा (या खस्सा) और बंडाना कहते थे। क्या आप जानते हैं कि अंग्रेज़ी का शिंट्ज़ शब्द कहाँ से आया है? जी हाँ, यह हिंदी के 'छींट' शब्द से निकला है। हमारे यहाँ छींट रंगीन फूल-पत्तियों वाले छोटे छापे के कपड़े को कहा जाता है। 1680 के दशक तक इंग्लैंड और यूरोप में छापेदार भारतीय सूती कपड़े की जबरदस्त माँग पैदा हो चुकी थी। आकर्षक फूल-पत्तियों, बारीक रेशे और सस्ती कीमत की वजह से भारतीय कपड़े का एक अलग ही रुतबा था। इंग्लैंड के रईस ही नहीं बल्कि खुद महारानी भी भारतीय कपड़ों से बने परिधान पहनती थीं।

बंडाना शब्द का इस्तेमाल गले या सिर पर पहनने वाले चटक रंग के छापेदार गुलूबन्द के लिए किया जाता है। यह शब्द हिंदी के 'बाँधना' शब्द

चित्र 4 *– जामदानी बुनाई, बीसवीं सदी की शुरुआत में।*

जामदानी एक तरह का बारीक मलमल होता है जिस पर करघे में सजावटी चिह्न बुने जाते हैं। इनका रंग प्राय: सलेटी और सफेद होता है। आमतौर पर सूती और सोने के धागों का इस्तेमाल किया जाता था जो कि इस चित्र में दिखाई दे रहा है। बंगाल में स्थित ढाका और संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) स्थित लखनऊ *जामदानी* बुनाई के सबसे महत्त्वपूर्ण केंद्र थे।
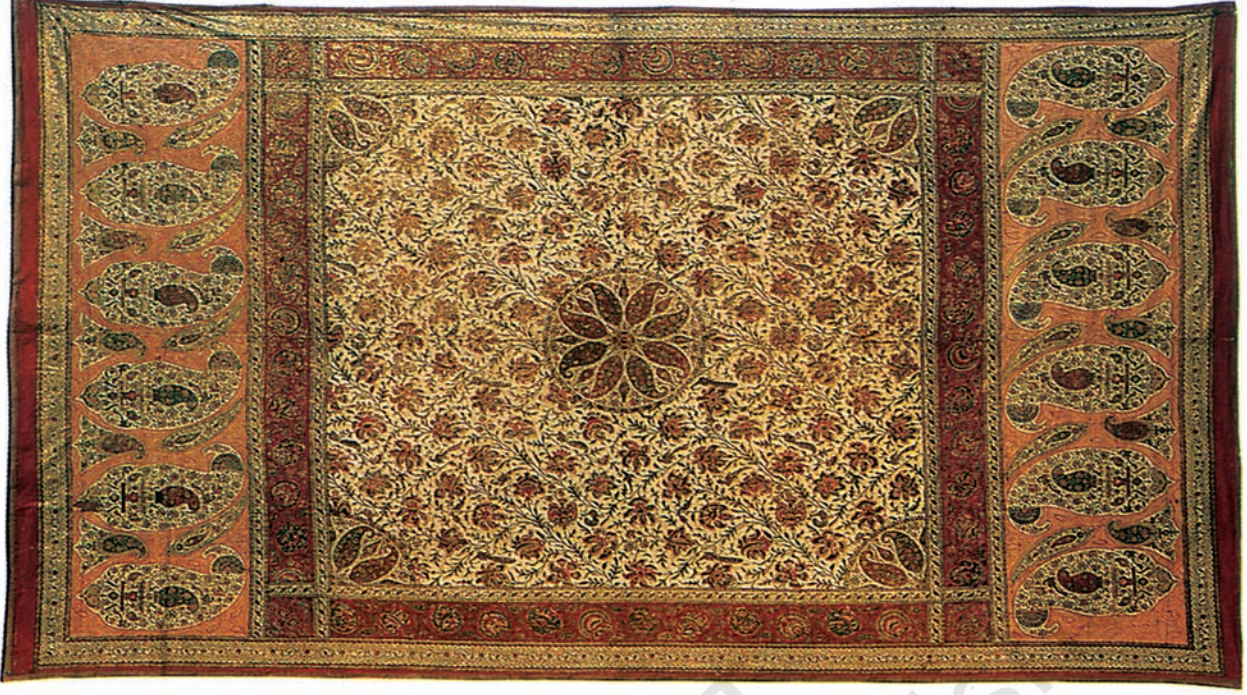
चित्र 5 *– मसूलीपट्टनम, आंध्र प्रदेश में बारीक कपड़े पर छपाई (छींट), उन्नीसवीं सदी के मध्य में।*

ईरान और यूरोप को निर्यात होने वाले छींट का यह बढ़िया उदाहरण है।

से निकला है। इस श्रेणी में चटक रंगों वाले ऐसी बहुत सारी किस्म के कपड़े आते थे जिन्हें बाँधने और रँगसाज़ी की विधियों से ही बनाया जाता था।

बही में कई दूसरी तरह के कपड़ों का भी ज़िक्र है जिनका नाम उनके जन्म स्थान के अनुसार लिखा गया है : कासिमबाज़ार, पटना, कलकत्ता, उड़ीसा, चारपूर आदि। इन शब्दों के व्यापक प्रयोग से पता चलता है कि दुनिया के विभिन्न भागों में भारतीय कपड़े कितने मशहूर हो चुके थे।

चित्र 6 *– बंडाना डिजाइन, बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में।*

कपड़े के मध्य से गुजरती लकीर को देखें। आप जानते हैं यह क्यों है? दरअसल, इस ओढ़नी में दो बाँध कर रँगे गये (Tie and dye) रेशमी कपड़े के टुकड़ों को सोने की कढ़ाई के ज़रिए एक-दूसरे में सीं दिया गया है। बंडाना शैली के कपड़े अधिकांशत: राजस्थान और गुजरात में बनाए जाते थे।
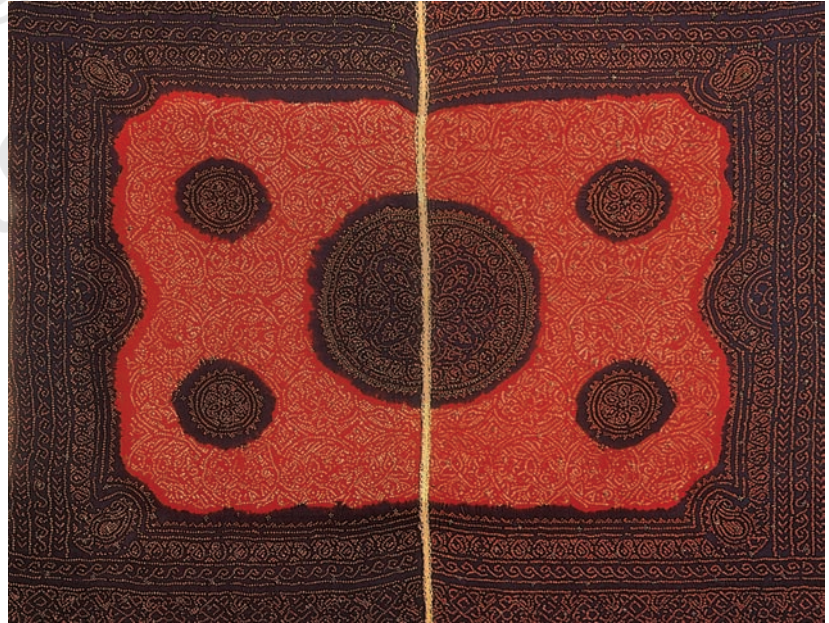
यूरोपीय बाज़ारों में भारतीय कपड़ा

अठारहवीं सदी की शुरुआत तक आते-आते भारतीय कपड़े की लोकप्रियता से बेचैन इंग्लैंड के ऊन व रेशम निर्माता भारतीय कपड़ों के आयात का विरोध करने लगे थे। इसी दबाव के कारण 1720 में ब्रिटिश सरकार ने इंग्लैंड में छापेदार सूती कपड़े – छींट – के इस्तेमाल पर पाबंदी लगाने के लिए एक क़ानून पारित कर दिया। संयोगवश, इस क़ानून को भी कैलिको अधिनियम ही कहा जाता था।

उस समय इंग्लैंड में नए-नए कपड़ा कारख़ाने खुल रहे थे। भारतीय कपड़ों के सामने लाचार अंग्रेज़ कपड़ा उत्पादक अपने देश में भारतीय कपड़ों के प्रवेश पर पूरी पाबंदी चाहते थे ताकि पूरे इंग्लैंड में केवल उन्हीं का कपड़ा बिके। इस क्रम में इंग्लैंड की सरकार ने सबसे पहले कैलिको छपाई उद्योग को ही सरकारी संरक्षण में विकसित किया। अब सफेद मलमल या बिना मांड वाले कोरे भारतीय कपड़े पर इंग्लैंड में ही भारतीय डिजाइन छापे जाने लगे।

भारतीय कपड़ों के साथ इस होड़ की वजह से इंग्लैंड में तकनीकी सुधारों की ज़रूरत दिखाई देने लगी थी। 1764 में जॉन के ने **स्पिनिंग जैनी** का आविष्कार किया जिससे परंपरागत तकलियों की उत्पादकता काफी बढ़ गई। 1786 में रिचर्ड आर्कराइट ने वाष्प इंजन का आविष्कार किया जिसने सूती कपड़े की बुनाई को क्रान्तिकारी रूप से बदल दिया। अब बहुत सारा कपड़ा बेहद कम कीमत पर तैयार किया जा सकता था।

इसके बावजूद, दुनिया के बाज़ारों पर भारतीय कपड़े का दबदबा अठारहवीं सदी के आखिर तक बना रहा। डच, फ्रेंच, ब्रिटिश और अन्य यूरोपीय व्यापारिक कम्पनियों ने इस व्यापार से बेहिसाब मुनाफ़ा कमाया। ये कम्पनियाँ भारत आकर चाँदी के बदले सूती और रेशमी कपड़े खरीदती थीं। परंतु जैसा कि आप जानते हैं, जब इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी को बंगाल की राजनीतिक सत्ता मिल गई तो उसे भारतीय चीज़ें खरीदने के लिए चाँदी मँगाने की ज़रूरत नहीं रही (अध्याय 2)। इसके बाद तो ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत में ही किसानों और ज़मींदारों से राजस्व इकट्ठा करके उस पैसे से कपड़ा खरीदने लगी।

गतिविधि

आपकी राय में कैलिको अधिनियम का यह नाम 'कैलिको अधिनियम' क्यों रखा गया? इस नाम से इस बारे में क्या पता चलता है कि कौन से कपड़े पर पाबंदी लगाई जा रही थी?

स्पिनिंग जैनी – एक ऐसी मशीन जिससे एक कामगार एक साथ कई तकलियों पर काम कर सकता था। जब पहिया घूमता था तो सारी तकलियाँ घूमने लगती थीं।

चित्र 7 – कोचीन स्थित डच बस्ती का समुद्र से दिखता दृश्य, सत्रहवीं शताब्दी में।

जैसे-जैसे यूरोपीय व्यापार फैला, विभिन्न बंदरगाहों पर व्यापारिक बस्तियाँ भी बनने लगीं। कोचीन में डच बस्तियाँ सत्रहवीं शताब्दी में विकसित हुईं। बस्ती के चारों तरफ स्थित किलेबंदी को देखिए।
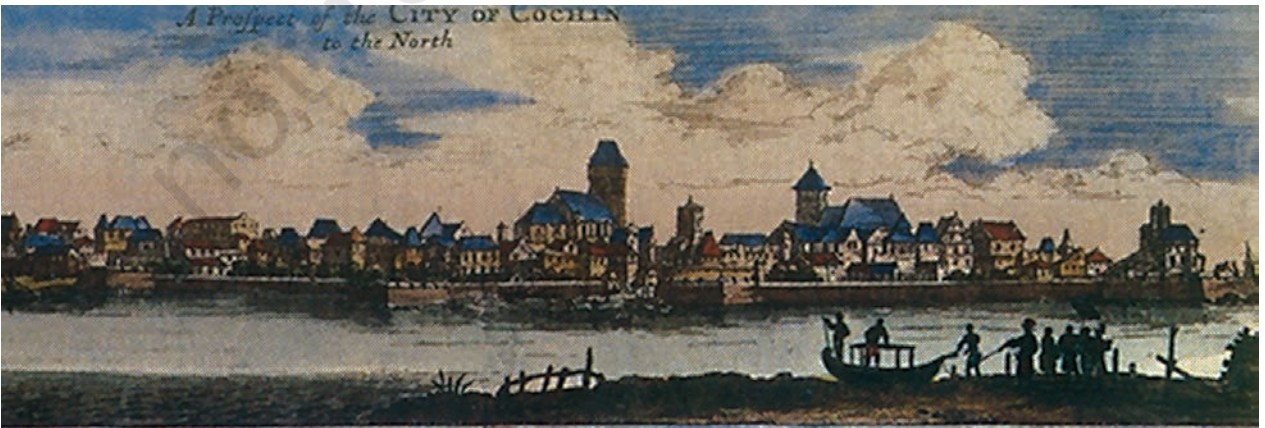
अठारहवीं सदी के आखिर में बुनाई के मुख्य केंद्र कहाँ-कहाँ थे?
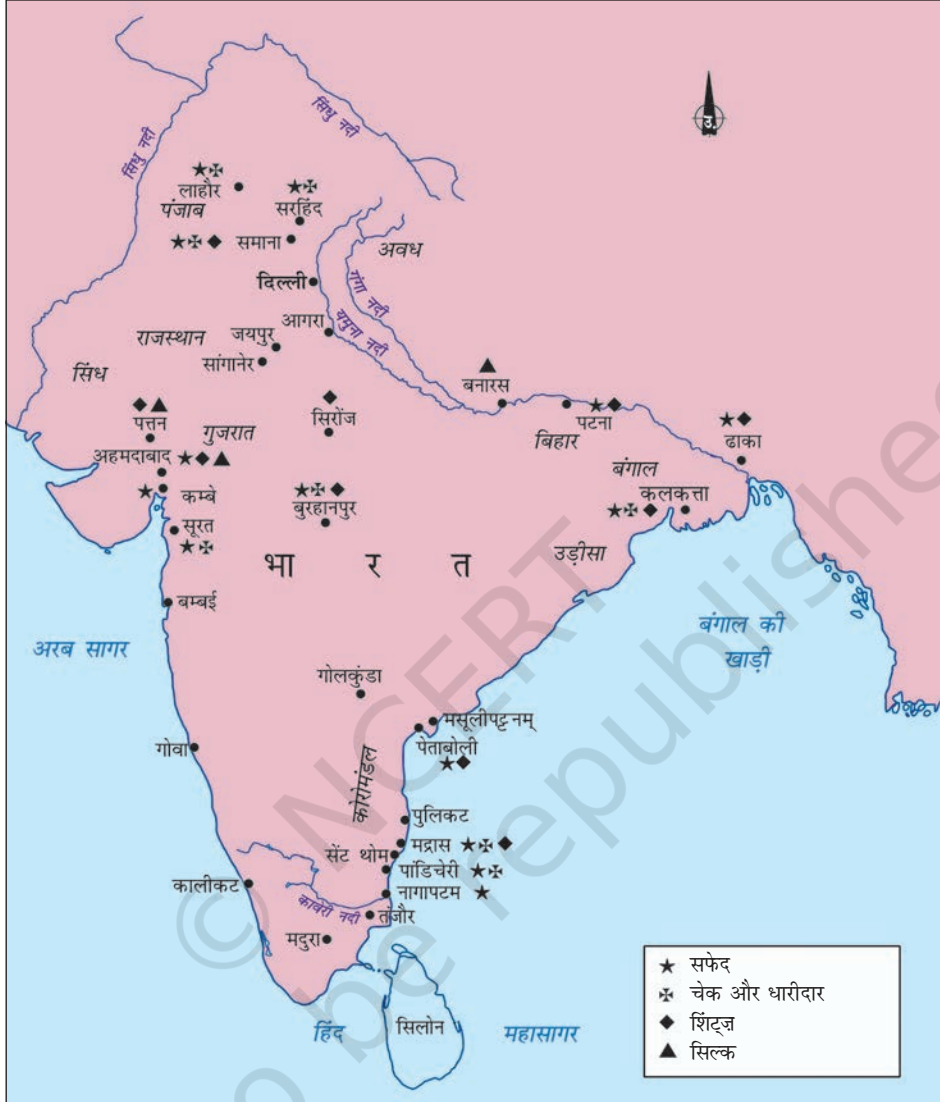
चित्र 8 - बुनाई केंद्र : 1500-1750

अगर आप इस नक्शे को देखें तो पाएँगे कि उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में कपड़ा उत्पादन चार क्षेत्रों में केंद्रित था। बंगाल सबसे महत्त्वपूर्ण केंद्रों में से एक था। डेल्टा की असंख्य नदियों से सटे बंगाल के उत्पादन केंद्र अपना माल दूर-दूर तक आसानी से भेज सकते थे। याद रखें कि उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में रेलवे की शुरुआत नहीं हुई थी और सड़कें भी अभी बननी ही शुरू हो रही थीं।

पूर्वी बंगाल (अब बांगलादेश) स्थित ढाका अठारहवीं सदी में सबसे महत्त्वपूर्ण कपड़ा उत्पादन केंद्र था। ये शहर अपनी मलमल और जामदानी बुनाई के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध था।

यदि आप नक्शे में भारत के दक्षिणी भाग को देखें तो मद्रास से उत्तरी आंध्र प्रदेश तक फैले कोरोमंडल तट के साथ-साथ सूती कपड़ा बुनाई केंद्रों का एक और समूह दिखाई पड़ेगा। पश्चिमी तट पर मुख्य बुनाई केंद्र गुजरात में स्थित थे।

बुनकर कौन थे?

बुनकर आमतौर पर बुनाई का काम करने वाले समुदायों के ही कारीगर होते थे। वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसी हुनर को आगे बढ़ाते थे। बंगाल के तांती, उत्तर भारत के जुलाहे या मोमिन, दक्षिण भारत के साले व कैकोल्लार तथा देवांग समुदाय बुनकरी के लिए प्रसिद्ध थे।

सूत कातना कपड़ा उत्पादन का सबसे पहला चरण था। यह काम अधिकांशत: महिलाओं के जिम्मे रहता था। चरखा और तकली घर-घर में पाए जाते थे। धागे को चरखे पर कात कर तकली पर लपेट दिया जाता था। जब कताई पूरी हो जाती थी तो बुनकर इस धागे से कपड़े बुनते थे। ज़्यादातर समुदायों में बुनाई का काम पुरुष करते थे। रंगीन कपड़ा बनाने के लिए रँगरेज़ इस धागे को रँग देते थे। छपाईदार कपड़ा बनाने के लिए बुनकरों को चिप्पीगर नामक माहिर कारीगरों की ज़रूरत होती थी जो ठप्पे से छपाई करते थे। हथकरघों पर होने वाली बुनाई और उससे जुड़े व्यवसायों से लाखों भारतीयों की रोज़ी-रोटी चलती थी।

चित्र 9 – बंगाल का एक तांती बुनकर, बेल्जियन चित्रकार सोलविंस द्वारा बनाया गया चित्र, 1790 का दशक।

इस चित्र में तांती बुनकर गड्ढे वाले करघे में काम कर रहा है। क्या आप जानते हैं कि गड्ढे वाला करघा क्या होता है?

भारतीय कपड़े का पतन

ब्रिटेन में सूती कपड़ा उद्योग के विकास से भारतीय कपड़ा उत्पादकों पर कई तरह के असर पड़े। पहला : अब भारतीय कपड़े को यूरोप और अमरीका के बाज़ारों में ब्रिटिश उद्योगों में बने कपड़ों से मुकाबला करना पड़ता था। दूसरा : भारत से इंग्लैंड को कपड़े का निर्यात मुश्किल होता जा रहा था क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने भारत से आने वाले कपड़े पर भारी सीमा शुल्क थोप दिए थे।

इंग्लैंड में बने सूती कपड़े ने उन्नीसवीं सदी की शुरुआत तक भारतीय कपड़े को अफ़्रीका, अमरीका और यूरोप के परंपरागत बाज़ारों से बाहर कर दिया था। इसकी वजह से हमारे यहाँ के हज़ारों बुनकर बेरोज़गार हो गए। सबसे बुरी मार बंगाल के बुनकरों पर पड़ी। ब्रिटिश और यूरोपीय कम्पनियों ने भारतीय माल खरीदने बंद कर दिए और उनके एजेंटों ने तयशुदा आपूर्ति के लिए बुनकरों को पेशगी देना बंद कर दिया था। परेशान बुनकरों ने मदद के लिए बार-बार सरकार से गुहार लगाई।

औरांग – फारसी भाषा में गोदाम को औरांग कहा जाता है। वहाँ बिक्री से पहले चीज़ों को जमा करके रखा जाता है। वर्कशॉप के लिए भी यह शब्द इस्तेमाल होता है।

स्रोत 1

"हम भूखों मर जाएँगे"

1823 में भारत की कंपनी सरकार को 12,000 बुनकरों की तरफ से एक पत्र मिला जिसमें कहा गया था कि :

हमारे पुरखे और हम लोगों को कंपनी से पेशगी मिलती थी जिससे हम कंपनी के लिए बढ़िया कपड़े बुनकर अपने-अपने परिवारों का पेट पालते थे। हमारी बदनसीबी है कि अब **औरांग** ख़त्म कर दिए गए हैं जिसकी वजह से हम लोगों और हमारे परिवारों के पास आजीविका के साधन नहीं बचे हैं। हम बुनकर हैं और कोई दूसरा कारोबार नहीं जानते। अगर बोर्ड ऑफ ट्रेड (व्यापार बोर्ड) हम पर कृपा नहीं करता और हमें कपड़ों के ऑर्डर नहीं देता है तो हम भूखों मर जाएँगे।

व्यापारिक बोर्ड की कार्रवाई, 3 फरवरी 1824

स्रोत 2

"कृपया इसे अपने अखबार में प्रकाशित करें"

1828 में एक विधवा कताई कामगार ने *समाचार दर्पण* नामक बंगाली अखबार के नाम भेजे पत्र में अपनी दुर्दशा का इस तरह बयान किया था :

सेवा में,
संपादक, समाचार

मैं कताई कामगार हूँ। भारी कष्ट के साथ मैं यह पत्र लिख रही हूँ। कृपया इसे अपने पत्र में प्रकाशित करें...। जब मेरी उम्र... 22 साल थी तभी मेरे पति का देहांत हो गया था। मेरी तीन बेटियाँ थीं। जब मेरे पति का देहांत हुआ हमारे पास कुछ भी नहीं बचा था। उनके श्राद्ध के लिए मुझे अपने गहने बेचने पड़े। जब हम भूखों मरने की हालत में पहुँच गए तो भगवान ने मुझे जिंदा रहने का एक रास्ता दिखाया। मैं तकली और चरखे पर सूत कातने लगी...।

बुनकर हमारे घर आते और तीन तोले प्रति रुपये की दर से सूत खरीद कर ले जाते। बुनकरों से मुझे जितनी पेशगी चाहिए होती थी, मुझे मिल जाती थी। इस तरह हम खाने-पीने और कपड़ों के बारे में निश्चिंत रहने लगे। कुछ सालों में मैंने... 28 रुपए इकट्ठा कर लिए थे। इस पैसे से मैंने अपनी एक बेटी का ब्याह किया। इसी तरह मेरी तीनों बेटियाँ अपने-अपने घर चली गईं...।

अब तीन साल से हम दोनों औरतें, मेरी सास और मैं, दाने-दाने को तरस रहे हैं। अब सूत खरीदने वाले बुनकर हमारे पास नहीं आते। अगर मैं बाज़ार में सूत भेजती हूँ तो पहले के मुकाबले एक चौथाई दाम भी नहीं मिलते।

समझ में नहीं आता कि ये सब कैसे हो गया है। मैंने बहुतों से पूछा है। लोग कहते हैं कि बाहर से बिलाती (विलायती) सूत आयात किया जा रहा है। बुनकर वही सूत खरीद कर कपड़ा बनाते हैं...। लोग इस सूत का बना कपड़ा दो महीने भी नहीं पहन पाते; वह गल कर तार-तार हो जाता है।

कष्टों में फँसी एक कताई कामगार की आपबीती

लेकिन असली दुर्दिन तो अभी आने वाले थे। 1830 के दशक तक भारतीय बाज़ार ब्रिटेन में बने सूती कपड़े से पट गए। दरअसल, 1880 के दशक तक स्थिति यह हो गई थी कि भारत के लोग जितना सूती कपड़ा पहनते थे उसमें से दो तिहाई ब्रिटेन का बना होता था। इससे न केवल बुनकरों बल्कि सूत कातने वालों की भी हालत खराब होती गई। जो लाखों ग्रामीण महिलाएँ सूत कातकर ही अपनी आजीविका चला रही थीं वे बेरोज़गार हो गईं।

लेकिन भारत में हथकरघों से होने वाली बुनाई पूरी तरह खत्म नहीं हुई। इसकी वजह यह थी कि कपड़ों की कुछ किस्में मशीनों पर नहीं बन सकती थीं। भला जटिल और मनभावन किनारियों वाली साड़ी या परंपरागत बुनाई वाले कपड़े मशीनों पर कैसे बन सकते थे? इन कपड़ों की न केवल रईसों के बीच बल्कि मध्यवर्ग में भी काफी माँग थी। और न ही ब्रिटेन के कपड़ा मिलों में वह बेहद मोटा कपड़ा बनता था जिसे भारतीय गरीब पहनते थे।

गतिविधि

स्रोत 1 और 2 को देखें। अर्जी भेजने वालों ने अपनी भुखमरी के लिए किन परिस्थितियों को जिम्मेदार बताया है?

2018-19

आपने पश्चिमी भारत में स्थित शोलापुर और दक्षिण भारत में स्थित मदुरा का जिक्र ज़रूर सुना होगा। ये शहर उन्नीसवीं सदी के आखिर में बुनकरी के नए महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनकर सामने आए। बाद में, राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान महात्मा गांधी ने भी लोगों से आह्वान किया कि वे आयातित कपड़े का बहिष्कार करें और हाथ से कते सूत और हाथ से बुने कपड़े ही पहनें। इस तरह खादी राष्ट्रवाद का प्रतीक बनती चली गई। चरखा भारत की पहचान बन गया और 1931 में उसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के तिरंगे झंडे की बीच वाली पट्टी में जगह दी गई।

आइए देखें कि आजीविका के साधन गँवा चुके बुनकरों और सूत कातने वालों का क्या हुआ? उनमें से बहुत सारे तो खेतिहर मज़दूर बन गए थे। कुछ काम की तलाश में शहरों की तरफ चले गए और बहुत से देश से बाहर अफ़्रीका व दक्षिणी अमरीका के बागानों में काम करने के लिए चले गए। इनमें से कुछ हथकरघा बुनकरों को बम्बई (अब मुंबई), अहमदाबाद, शोलापुर, नागपुर और कानपुर में खुले नए कपड़ा कारख़ानों में नौकरी भी मिल गई।

सूती कपड़ा मिलों का उदय

भारत में पहली सूती कपड़ा मिल 1854 में बम्बई में स्थापित हुई। यह कताई मिल थी। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही भारत से इंग्लैंड और चीन को होने वाले कच्चे कपास के निर्यात के लिए बम्बई एक महत्त्वपूर्ण बंदरगाह बन चुका था। बम्बई पश्चिमी भारत की काली मिट्टी वाली उस विशाल पट्टी से काफी निकट था जहाँ कपास की खेती की जाती थी। जब वहाँ सूती कपड़ा मिलों की स्थापना हुई तो उन्हें कच्चा माल आसानी से मिलने लगा।

चित्र 10– *एक कपास कारख़ाने में काम करती मजदूर महिलाएँ, सन् 1900 के लगभग राजा दीनदयाल द्वारा लिया गया चित्र।*

कताई विभाग में ज़्यादातर मज़दूर महिलाएँ होती थीं जबकि बुनकर विभाग में ज़्यादातर पुरुष होते थे।

प्रगलन – चट्टान (या मिट्टी) को बहुत ऊँचे तापमान पर गर्म करके धातु तैयार करने या धातु की बनी चीज़ों को पिघलाने की प्रक्रिया जिससे कोई नई चीज़ बनाई जा सके।

सन् 1900 तक आते–आते बम्बई में 84 कपड़ा मिलें चालू हो चुकी थीं। उनमें से बहुत सारी मिलें पारसी और गुजराती व्यवसायियों ने खोली थीं जो चीन के साथ व्यापार के ज़रिए काफ़ी पैसा कमा चुके थे।

इस दौरान दूसरे शहरों में भी ऐसे कई कारख़ाने खोले गए। अहमदाबाद में पहला कारख़ाना 1861 में खुला। अगले ही साल संयुक्त प्रांत स्थित कानपुर में भी एक कारख़ाना खुल गया। सूती कपड़ा मिलों की बढ़ती संख्या के कारण मज़दूरों की माँग भी बढ़ने लगी। हज़ारों गरीब काश्तकार, दस्तकार और खेतिहर कामगार कारख़ानों में काम करने के लिए शहरों की तरफ जाने लगे।

प्रारंभिक कुछ दशकों के दौरान भारतीय कपड़ा कारख़ानों को बहुत सारी समस्याओं से जूझना पड़ा। सबसे पहली समस्या तो यही थी कि इस उद्योग को ब्रिटेन से आए सस्ते कपड़ों का मुकाबला करना पड़ता था। ज़्यादातर देशों में सरकारें आयातित वस्तुओं पर सीमा शुल्क लगा कर अपने देश में औद्योगीकरण को बढ़ावा देती थीं। इससे प्रतिस्पर्धा खत्म हो जाती थी और संबंधित देश के नवजात उद्योगों को संरक्षण मिलता था। परंतु औपनिवेशिक भारतीय सरकार ने स्थानीय उद्योगों को आम तौर पर इस तरह की सुरक्षा नहीं दी। लिहाज़ा, भारत में औद्योगिक सूती वस्त्रोत्पादन की पहली बड़ी लहर प्रथम विश्व युद्ध के समय दिखाई दी जब ब्रिटेन से आने वाले कपड़े की मात्रा में काफी कमी आ गई थी और सैनिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए भारतीय कारख़ानों से कपड़े का उत्पादन बढ़ाने की माँग की जाने लगी।

चित्र 11– *अठारहवीं सदी के अंत में टीपू की तलवार।*

टीपू सुल्तान की तलवार की मूठ पर कुरान की आयतें लिखी हुई हैं जिनमें युद्ध में फतह के संदेश दिए गए हैं। गौर से देखिए की शेर का सिर मूठ के निचले सिरे की तरफ है।

टीपू सुल्तान की तलवार और वुट्ज़ स्टील

भारतीय इस्पात और लौह धातु कला की कहानी हम टीपू सुल्तान के एक मशहूर किस्से से शुरू करते हैं। ये वही टीपू सुल्तान हैं जिन्होंने 1799 तक मैसूर पर शासन किया और अंग्रेज़ों से चार लड़ाइयाँ लड़ीं और हाथ में तलवार लिए लड़ते–लड़ते मारे गए थे। टीपू की विश्वविख्यात तलवारें आज इंग्लैंड के संग्रहालयों की बहुमूल्य संपत्ति हैं। लेकिन क्या आप जानते हैं कि टीपू की तलवार इतनी ख़ास क्यों थी? दरअसल इस तलवार की धार इतनी सख्त और पैनी थी कि वह दुश्मन के लौह–कवच को भी आसानी से चीर सकती थी। इस तलवार में यह गुण कार्बन की अधिक मात्रा वाली वुट्ज़ नामक स्टील से पैदा हुआ था जो पूरे दक्षिण भारत में बनाया जाता था। इस वुट्ज़ स्टील की तलवारें बहुत पैनी और लहरदार होती थीं। इनकी यह बनावट लोहे में गड़े कार्बन के बेहद सूक्ष्म कणों से पैदा होती थी।

टीपू सुल्तान की मृत्यु के एक साल बाद 1800 में मैसूर की यात्रा करने वाले फ़्रांसिस बुकानन ने इस बात का ब्योरा दिया है कि मैसूर की सैकड़ों **प्रगलन** भट्ठियों में वुट्ज़ स्टील किस तरह बनाया जाता था। इन भट्ठियों में लोहे को काठकोयले के साथ मिलाकर मिट्टी की छोटी–छोटी हांडियों में रख दिया जाता था। तापमान के जटिल उतार–चढ़ावों को नियंत्रित करते हुए प्रगालक इस्पात की सिल्लियाँ तैयार कर लेते थे जिनका न केवल भारत बल्कि पश्चिमी और मध्य एशिया में भी तलवार बनाने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। वुट्ज़

असल में कन्नड शब्द उक्कू, तेलगु शब्द हुक्कू और तमिल व मलयालम शब्द उरुक्कू यानी स्टील का ही बिगड़ा हुआ अंग्रेज़ी रूप है।

भारतीय वुट्ज़ स्टील ने यूरोपीय वैज्ञानिकों को काफी आकर्षित किया था। विश्वविख्यात वैज्ञानिक और बिजली व विद्युत चुम्बकत्व का आविष्कार करने वाले माइकल फ़ैराडे ने भारतीय वुट्ज़ स्टील की विशेषताओं का चार साल (1818-22) तक अध्ययन किया। परंतु दक्षिण भारत में इतनी प्रचलित वुट्ज़ स्टील निर्माण प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी के मध्य तक आते-आते पूरी तरह लुप्त हो चुकी थी। क्या आप बता सकते हैं ऐसा क्यों हुआ होगा? भारत पर अंग्रेज़ों की जीत के साथ ही यहाँ का तलवार और हथियार उद्योग समाप्त हो गया और भारतीय कारीगरों द्वारा बनाए गए लोहे और इस्पात का स्थान इंग्लैंड से आए लोहे और इस्पात ने ले लिया।

गतिविधि

नवाबों और राजाओं की हार से लौह एवं इस्पात उद्योग कैसे प्रभावित होता था?

गाँवों की उजड़ी भट्ठियाँ

वुट्ज़ स्टील उत्पादन के लिए लोहे के परिशोधन की बेहद परिष्कृत तकनीक ज़रूरी थी। परंतु भारत में उन्नीसवीं सदी के अंत तक लोहे का प्रगलन एक सामान्य गतिविधि थी। खासतौर से बिहार और मध्य भारत के हरेक जिले में ऐसे प्रगालक कारगर थे जो लोहा बनाने के लिए लौह अयस्क के स्थानीय भंडारों का इस्तेमाल करते थे। इसी लोहे से कारख़ानों में दैनिक इस्तेमाल के औज़ार और साधन बनाए जाते थे। ज़्यादातर भट्ठियाँ मिट्टी और धूप में सुखायी गई ईंटों से बनी होती थीं। प्रगलन का काम पुरुष करते थे जबकि महिलाएँ **धौंकनी** चलाती थीं। वे कोयले को लगातार दहकाने के लिए हवा

धौंकनी – हवा फेंकने का यंत्र।

चित्र 12 – पालामाऊ, बिहार के लोहा कारीगर।

चित्र 13– मध्य भारत का एक गाँव जहाँ लौह प्रगालकों का अगरिया समुदाय रहता था।

अगरिया जैसे कई समुदाय लोहा बनाने में माहिर थे। उन्नीसवीं सदी के आखिर में बार-बार पड़े अकाल की वजह से भारत के सूखे इलाके पूरी तरह तबाह हो चुके थे। मध्य भारत में बहुत सारे अगरिया कारीगरों ने काम बंद कर दिया, गाँव छोड़ दिया और रोजी-रोटी की तलाश में दूसरे इलाकों में चले गए। उनमें से बहुत सारे लोगों ने दोबारा कभी भट्ठियाँ नहीं चलाईं।

फेंकती रहती थीं।

उन्नीसवीं सदी के अंत तक आते-आते लोहे के प्रगलन का हुनर खत्म होने लगा था। ज़्यादातर गाँवों में भट्ठियाँ ठंडी पड़ चुकी थीं और लोहे का उत्पादन गिरता जा रहा था। ऐसा क्यों हुआ?

इसकी एक वजह तो नए वन क़ानून ही थे जिनके बारे में आप अध्याय 4 में पढ़ चुके हैं। जब औपनिवेशिक सरकार ने आरक्षित वनों में लोगों के प्रवेश पर पाबंदी लगा दी तो लोहा बनाने वालों को कोयले के लिए भला लकड़ी कहाँ से मिलती? और, लौह अयस्क भी वे कहाँ से ला सकते थे? वन क़ानूनों को नज़रअंदाज करते हुए वे अकसर चोरी-छिपे जंगलों में जाकर लकड़ी इकट्ठा कर लाते थे परंतु लंबे समय तक केवल इसी तरह अपना कारोबार जारी नहीं रख सकते थे। लिहाज़ा, बहुत सारे कारीगरों ने यह पेशा छोड़ दिया और वे आजीविका के दूसरे साधन ढूँढ़ने लगे।

कुछ क्षेत्रों में सरकार ने जंगलों में आवाजाही की अनुमति दे दी थी। लेकिन प्रगालकों को अपनी प्रत्येक भट्ठी के लिए वन विभाग को बहुत भारी कर चुकाने पड़ते थे जिससे उनकी आय गिर जाती थी।

उन्नीसवीं सदी के आखिर तक ब्रिटेन से लोहे और इस्पात का आयात भी होने लगा था। भारतीय लुहार भी घरेलू बर्तन व औज़ार आदि बनाने के लिए आयातित लोहे का इस्तेमाल करने लगे थे। इसकी वजह से स्थानीय प्रगालकों द्वारा बनाए जा रहे लोहे की माँग कम होने लगी।

बीसवीं सदी की शुरुआत तक लोहा और इस्पात बनाने वाले कारीगरों के सामने एक नई चुनौती आ खड़ी हुई।

स्रोत 3

एक व्यापक उद्योग

प्राणी-विज्ञान सर्वेक्षण विभाग की एक रिपोर्ट के अनुसार :

एक जमाने में लोहा प्रगलन भारत का बहुत व्यापक उद्योग था और सिंधु, गंगा व ब्रह्मपुत्र के विशाल बलुआ मैदानों के अलावा शायद ही कोई ऐसा जिला था जहाँ **धातु-मल** न दिखाई देता हो। यहाँ के आदिम लौह प्रगालकों को ऐसे भंडारों से अयस्क हासिल करने में कोई परेशानी नहीं होती जिन पर कोई यूरोपीय लौह विशेषज्ञ एक पल के लिए विचार करना भी उचित नहीं समझेगा।

भारत में लोहा व इस्पात कारख़ानों का उदय

धातु-मल – धातु को गलाने से पैदा होने वाला कचरा।

साल 1904 की बात है। अप्रैल के महीने में अमरीकी भूवैज्ञानिक चार्ल्स वेल्ड और जमशेदजी टाटा के सबसे बड़े बेटे दोराबजी टाटा छत्तीसगढ़ में लौह अयस्क भंडारों की खोजबीन करते घूम रहे थे। वे भारत में एक आधुनिक लौह एवं इस्पात संयंत्र लगाने के लिए अच्छे लौह अयस्क भंडारों की तलाश में कई महीने और काफी सारा पैसा खर्च कर चुके थे। जमशेदजी टाटा भारत में बड़ा लौह एवं इस्पात कारख़ाना लगाने के लिए अपनी संपत्ति का बड़ा भाग खर्च करने को तैयार थे। लेकिन इसके लिए पहली शर्त यह थी कि उम्दा लौह अयस्क भंडारों का पता लगा लिया जाए।

एक दिन, कई घंटे तक जंगल की खाक छानने के बाद वेल्ड और दोराबजी एक छोटे से गाँव में जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि कुछ स्त्री-पुरुष टोकरियों में भरकर लौह अयस्क ले जा रहे हैं। ये अगरिया समुदाय के लोग थे। जब उनसे पूछा गया कि वे अयस्क कहाँ से लाए हैं तो उन्होंने दूर स्थित एक पहाड़ी की तरफ उँगली उठा दी। वेल्ड और दोराबजी घने जंगलों से होते हुए काफी देर बाद थककर उस पहाड़ी पर जा पहुँचे। पहाड़ी का अध्ययन करने के बाद वेल्ड ने बताया कि उन्हें जिस चीज़ की तलाश थी वह मिल चुकी है। रझारा पहाड़ियाँ दुनिया के सबसे बेहतरीन लौह अयस्क भंडारों में से एक थीं।

लेकिन यहाँ एक परेशानी थी। यह सूखा इलाक़ा था और कारख़ाना चलाने के लिए आसपास कहीं पानी नहीं था। लिहाज़ा, कारख़ाना लगाने के लिए सही जगह के बारे में टाटा की तलाश जारी रही। अगरिया समुदाय के लोगों ने ही लौह अयस्क का एक और स्रोत ढूँढ़ने में मदद दी जहाँ से बाद में भिलाई स्टील संयंत्र को अयस्क की आपूर्ति की गई।

कुछ साल बाद सुबर्णरेखा नदी के तट पर बहुत सारा जंगल साफ करके फ़ैक्ट्री और एक औद्योगिक शहर बसाने के लिए जगह बनाई गई। इस शहर को जमशेदपुर का नाम दिया गया। इस स्थान पर लौह अयस्क भंडारों के निकट ही पानी भी उपलब्ध था। यहाँ टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (टिस्को) की स्थापना हुई जिसमें 1912 से स्टील का उत्पादन होने लगा।

टिस्को की स्थापना बहुत सही समय पर हुई थी। उन्नीसवीं सदी में भारत

चित्र 14 – सुबर्णरेखा नदी के किनारे बनी टाटा आयरन एण्ड स्टील फ़ैक्ट्री, 1940.

आमतौर पर ब्रिटेन में बने स्टील का आयात कर रहा था। भारत में रेलवे के विस्तार की वजह से ब्रिटेन में बनी पटरियों की यहाँ भारी माँग थी। काफी समय तक भारतीय रेलवे से जुड़े अंग्रेज़ विशेषज्ञ यह मानने को तैयार ही नहीं थे कि भारत में भी श्रेष्ठ इस्पात का निर्माण संभव है।

जब तक टिस्को की स्थापना हुई, हालात बदलने लगे थे। 1914 में पहला विश्व युद्ध शुरू हुआ। ब्रिटेन में बनने वाले इस्पात को यूरोप में युद्ध संबंधी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए झोंक दिया गया। इस तरह भारत आने वाले ब्रिटिश स्टील की मात्रा में भारी गिरावट आई और रेल की पटरियों के लिए भारतीय रेलवे टिस्को पर आश्रित हो गया। जब युद्ध लंबा खिंच गया तो टिस्को को युद्ध के लिए गोलों के खोल और रेलगाड़ियों के पहिये बनाने का काम भी सौंप दिया गया। 1919 तक स्थिति यह हो गई थी कि टिस्को में बनने वाले 90 प्रतिशत इस्पात को औपनिवेशिक सरकार ही खरीद लेती थी। जैसे-जैसे समय बीता टिस्को समूचे ब्रिटिश साम्राज्य में इस्पात का सबसे बड़ा कारख़ाना बन चुका था।

सूती कपड़े की तरह लोहे एवं इस्पात के मामले में भी औद्योगिक विस्तार तभी शुरू हुआ जब भारत में ब्रिटिश आयात गिरने लगा और भारतीय

चित्र 15 – युद्ध के आखिर में विस्तार।

युद्ध की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए टिस्को को अपनी क्षमता और फ़ैक्ट्री का आकार बढ़ाना पड़ा। विस्तार का यह काम युद्ध के बाद भी चलता रहा। इस चित्र में नए विद्युत संयंत्र और बायलर संयंत्र बनाए जा रहे हैं, जमशेदपुर 1919.

औद्योगिक वस्तुओं की माँग में इज़ाफा हुआ। ये बदलाव पहले विश्व युद्ध के दौरान और उसके बाद सामने आए। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आंदोलन विकसित हुआ, औद्योगिक वर्ग ताकतवर होता गया और सरकारी संरक्षण की माँग बुलंद होती गई। भारत पर अपना नियंत्रण बनाए रखने के लिए संघर्षरत ब्रिटिश सरकार को औपनिवेशिक शासन के आखिरी दशकों में इनमें से बहुत सारी माँगें माननी पड़ीं।

अन्यत्र

जापान में औद्योगीकरण के शुरुआती साल

उन्नीसवीं सदी के आखिर में जापान के औद्योगीकरण का इतिहास भारत के औद्योगीकरण से बिलकुल उल्टा दिखाई देता है। भारत में औपनिवेशिक सरकार ब्रिटिश वस्तुओं का बाज़ार बढ़ाना चाहती थी इसलिए उसने भारतीय उद्योगपतियों को किसी तरह की सहायता नहीं दी। दूसरी तरफ, जापान की सरकार ने अपने देशी उद्योगों को खुलकर बढ़ावा दिया।

1868 में जापान की सत्ता सँभालने वाले मेजी राजवंश का मानना था कि जापान को पश्चिमी प्रभुत्व का सामना करने के लिए औद्योगीकरण के रास्ते पर चलना चाहिए। इसलिए उसने औद्योगीकरण को आगे बढ़ाने के लिए कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाए। इसी क्रम में डाक सेवाओं, टेलीग्राफ, रेलवे और वाष्पचालित जलपोतों का विकास किया गया। पश्चिम से नवीनतम तकनीक का आयात किया गया और उसे जापान की ज़रूरतों के हिसाब से ढाला गया। जापानी पेशेवरों को प्रशिक्षित करने के लिए विदेशी विशेषज्ञों को बुलाया गया। निवेश के लिए सरकारी बैंकों से उद्योगपतियों को उदार शर्तों पर कर्ज़े दिए गए। सरकार ने पहले विशाल उद्योग शुरू किए और बाद में उन्हें सस्ती कीमत पर व्यावसायिक घरानों को बेच दिया।

भारत में औपनिवेशिक प्रभुत्व ने औद्योगीकरण के रास्ते में बाधाएँ पैदा कर दी थीं जबकि जापान में विदेशी कब्ज़े के भय की वजह से ही औद्योगीकरण को बढ़ावा मिला था। लेकिन इसका एक अर्थ यह भी था कि जापान का औद्योगिक विकास शुरू से ही उसकी सैनिक ज़रूरतों से जुड़ा हुआ था।

फिर से याद करें

1. यूरोप में किस तरह के कपड़ों की भारी माँग थी?
2. *जामदानी* क्या है?
3. *बंडाना* क्या है?
4. अगरिया कौन होते हैं?

आइए कल्पना करें

कल्पना करें कि आप उन्नीसवीं सदी के आखिर के भारतीय बुनकर हैं। भारतीय फ़ैक्ट्रियों में बने कपड़े बाज़ार में छाए हुए हैं। ऐसी स्थिति में आप अपनी जिंदगी में क्या बदलाव लाएँगे?

5. रिक्त स्थान भरें :

(क) अंग्रेज़ी का शिंट्ज़ शब्द हिंदी के .... शब्द से निकला है।

(ख) टीपू की तलवार ... स्टील से बनी थी।

(ग) भारत का कपड़ा निर्यात ... सदी में गिरने लगा।

आइए विचार करें

6. विभिन्न कपड़ों के नामों से उनके इतिहासों के बारे में क्या पता चलता है?

7. इंग्लैंड के ऊन और रेशम उत्पादकों ने अठारहवीं सदी की शुरुआत में भारत से आयात होने वाले कपड़े का विरोध क्यों किया था?

8. ब्रिटेन में कपास उद्योग के विकास से भारत के कपड़ा उत्पादकों पर किस तरह के प्रभाव पड़े?

9. उन्नीसवीं सदी में भारतीय लौह प्रगलन उद्योग का पतन क्यों हुआ?

10 भारतीय वस्त्रोद्योग को अपने शुरुआती सालों में किन समस्याओं से जूझना पड़ा?

11 पहले महायुद्ध के दौरान अपना स्टील उत्पादन बढ़ाने में टिस्को को किस बात से मदद मिली?

आइए करके देखें

12. जहाँ आप रहते हैं उसके आस-पास प्रचलित किसी हस्तकला का इतिहास पता लगाएँ। इसके लिए आप दस्तकारों के समुदाय, उनकी तकनीक में आए बदलावों और उनके बाज़ारों के बारे में जानकारियाँ इकट्ठा कर सकते हैं। देखें कि पिछले 50 साल के दौरान इन चीज़ों में किस तरह बदलाव आए हैं?

13 भारत के नक्शे पर विभिन्न हस्तकलाओं के अलग-अलग केंद्रों को चिह्नित करें। पता लगाएँ कि ये केंद्र कब पैदा हुए?

8 "देशी जनता" को सभ्य बनाना राष्ट्र को शिक्षित करना

पहले के अध्यायों में आप देख चुके हैं कि ब्रिटिश शासन के कारण यहाँ के राजाओं और नवाबों, किसानों और आदिवासियों पर किस–किस तरह के प्रभाव पड़े थे। इस अध्याय में हम यह समझने का प्रयास करेंगे कि इन चीज़ों से विद्यार्थियों के जीवन पर क्या असर पड़े। विद्यार्थियों के जीवन को समझना इसलिए ज़रूरी है क्योंकि भारत में अंग्रेज़ केवल भूक्षेत्र पर विजय और आय पर नियंत्रण ही नहीं चाहते थे। उन्हें लगता था कि उनका एक सांस्कृतिक मिशन भी है। वे मानते थे कि उन्हें "देशी समाज को सभ्य बनाना" है और उनके रीति–रिवाज़ों और मूल्य–मान्यताओं को बदलना है।

इसके लिए कौन–से बदलाव लाए जाने थे? भारतीयों को शिक्षित, "सभ्य", और अंग्रेज़ों की सोच के मुताबिक "अच्छी प्रजा" बनाने के लिए कौन से कदम उठाए जाने थे? अंग्रेज़ों के पास भी इन सवालों के कोई बने–बनाए जवाब नहीं थे। इन सवालों पर कई दशक तक बहस चलती रही।

भाषाविद – एक ऐसा व्यक्ति जो कई भाषाओं का जानकार और विद्यार्थी होता है।

अंग्रेज़ शिक्षा को किस तरह देखते थे

आइए सबसे पहले इस बात पर ध्यान दें कि शिक्षा के क्षेत्र में अंग्रेज़ क्या सोच रहे थे और शिक्षा के जो विचार हमें आज सहज–सामान्य दिखाई देते हैं, वे पिछले 200 सालों में किस तरह विकसित हुए हैं। इस पड़ताल के दौरान हम इस बात पर भी विचार करेंगे कि भारतीयों ने ब्रिटिश विचारों पर कैसी प्रतिक्रिया दी और इस बारे में अंग्रेज़ों के विचार किस तरह विकसित हुए कि भारतीयों को कैसे पढ़ाया जाएगा।

प्राच्यवाद की परंपरा

सन् 1783 में विलियम जोन्स नाम के एक सज्जन कलकत्ता आए। उन्हें ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा स्थापित किए गए सुप्रीम कोर्ट में जूनियर जज के पद पर तैनात किया गया था। क़ानून का माहिर होने के साथ–साथ जोन्स एक **भाषाविद** भी थे। उन्होंने ऑक्सफ़र्ड में ग्रीक और लैटिन का अध्ययन किया था, वे फ़्रैंच और अंग्रेज़ी जानते थे और अपने एक दोस्त से अरबी सीखने के अलावा फ़ारसी भी सीख चुके थे। कलकत्ता में

चित्र 1 – विलियम जोन्स फ़ारसी भाषा सीख रहे हैं।

चित्र 2 – हेनरी टॉमस कोलब्रुक। वह संस्कृत तथा हिंदुत्व के प्राचीन धार्मिक ग्रंथों के विद्वान थे।

आने के बाद वे रोज़ाना घंटों संस्कृत विद्वानों के साथ बैठकर उनसे संस्कृत की बारीकियाँ, उसकी व्याकरण और संस्कृत काव्यों का अध्ययन करने लगे थे। कुछ ही समय में उन्होंने क़ानून, दर्शन, धर्म, राजनीति, नैतिकता, अंकगणित, चिकित्सा विज्ञान और अन्य विज्ञानों की प्राचीन भारतीय पुस्तकों का अध्ययन शुरू कर दिया।

जोन्स ने पाया कि उस समय कलकत्ता में तैनात बहुत सारे अंग्रेज़ अफ़सर भी उनके जैसी दिलचस्पियाँ रखते थे। हैनरी टॉमस कोलब्रुक और नैथेनियल हॉलहेड भी भारतीय भाषाएँ सीख कर संस्कृत व फ़ारसी रचनाओं का अंग्रेज़ी में अनुवाद कर रहे थे और प्राचीन भारतीय विरासत को समझने के प्रयास में लगे हुए थे। इन लोगों के साथ मिलकर जोन्स ने एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल का गठन किया और *एशियाटिक रिसर्च* नामक शोध पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया।

जोन्स और कोलब्रुक भारत के प्रति एक ख़ास तरह का रवैया रखते थे। वे भारत और पश्चिम, दोनों की प्राचीन संस्कृतियों के प्रति गहरा आदर भाव रखते थे। उनका मानना था कि भारतीय सभ्यता प्राचीन काल में अपने वैभव के शिखर पर थी परंतु बाद में उसका पतन होता चला गया। उनकी राय में, भारत को समझने के लिए प्राचीन काल में लिखे गए यहाँ के पवित्र और क़ानूनी ग्रंथों को खोजना व समझना बहुत ज़रूरी था। उनका मानना था कि हिंदुओं और मुसलमानों के असली विचारों व क़ानूनों को इन्हीं रचनाओं के ज़रिए समझा जा सकता है और इन रचनाओं के पुनः अध्ययन से ही भारत के भावी विकास का आधार पैदा हो सकता है।

इस तरह, जोन्स और कोलब्रुक, दोनों ही प्राचीन ग्रंथों को ढूँढ़ने, उनकी व्याख्या करने, अनुवाद करने और ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक अपने नतीजे पहुँचाने में जुट गए। उन्हें विश्वास था कि यह परियोजना न केवल अंग्रेज़ों को भारतीय संस्कृति से सीखने में मदद देगी बल्कि भारतीयों को भी अपनी विरासत को दोबारा अपनाने और अतीत के लुप्त वैभव को समझने में मदद देगी। इस प्रक्रिया में अंग्रेज़ भारतीय संस्कृति के अभिभावक और मालिक, दोनों की भूमिकाएँ निभा रहे थे।

इन प्रयासों और विचारों से प्रभावित होकर कंपनी के बहुत सारे अधिकारियों ने दलील दी कि अंग्रेज़ों को पश्चिमी ज्ञान की बजाय भारतीय ज्ञान को ही प्रोत्साहन देना चाहिए। वे चाहते थे कि प्राचीन भारतीय ग्रंथों के अध्ययन को प्रोत्साहित करने और संस्कृत व फ़ारसी साहित्य व काव्य पढ़ाने के लिए संस्थानों की स्थापना की जाए। इन अधिकारियों का ये भी मानना था कि हिन्दुओं और मुसलमानों को वही पढ़ाया जाना चाहिए जिससे वे पहले ही परिचित हैं और जिसे वे आदर और महत्त्व देते हैं। उन्हें अनजाने विषयों की शिक्षा न दी जाए। इन अफ़सरों की राय में, केवल तभी अंग्रेज़ "देशी जनता" का दिल जीत सकते हैं; केवल तभी अजनबी शासक अपनी प्रजा से आदर की उम्मीद कर सकते हैं।

मदरसा – सीखने के स्थान को अरबी भाषा में मदरसा कहा जाता है। यह किसी भी तरह का स्कूल या कॉलेज या कोई और संस्थान हो सकता है।

इस बात को ध्यान में रखते हुए 1781 में अरबी, फ़ारसी, इस्लामिक क़ानून के अध्ययन को बढ़ावा देने के लिए कलकत्ता में एक **मदरसा** खोला गया।

चित्र 3 – वॉरेन हेस्टिंग्स का स्मारक, रिचर्ड वेस्टमाकोट, 1830, अब कलकत्ता स्थित विक्टोरिया मेमोरियल में।

इस तस्वीर से पता चलता है कि भारत में ब्रिटिश सत्ता के बारे में **प्राच्यवादी** किस तरह सोचते थे। यहाँ आप देख सकते हैं कि सबसे ऊपर हेस्टिंग्स की भव्य प्रतिमा है जो प्राच्यवादियों के भारी समर्थक थे। इसके एक तरफ पंडित और दूसरी तरफ नीचे बैठा हुआ **मुंशी** दिखाई दे रहा है। हेस्टिंग्स तथा अन्य प्राच्यवादी भारतीय विद्वानों से विभिन्न भारतीय भाषाएँ सीखना चाहते थे जिन्हें वह कई बार केवल बोलियाँ समझते और **'वर्नाकुलर'** का नाम देते थे।। स्थानीय रीति-रिवाज़ों और कानूनों के बारे में जानना चाहते थे और प्राचीन ग्रंथों के अनुवाद और व्याख्या में मदद चाहते थे। हेस्टिंग्स ने पहल करके कलकत्ता मदरसे की स्थापना की और उनका विश्वास था कि यहाँ के प्राचीन रीति-रिवाज़ और यहाँ की ज्ञान संपदा ही भारत में ब्रिटिश शासन के आधार होने चाहिए।
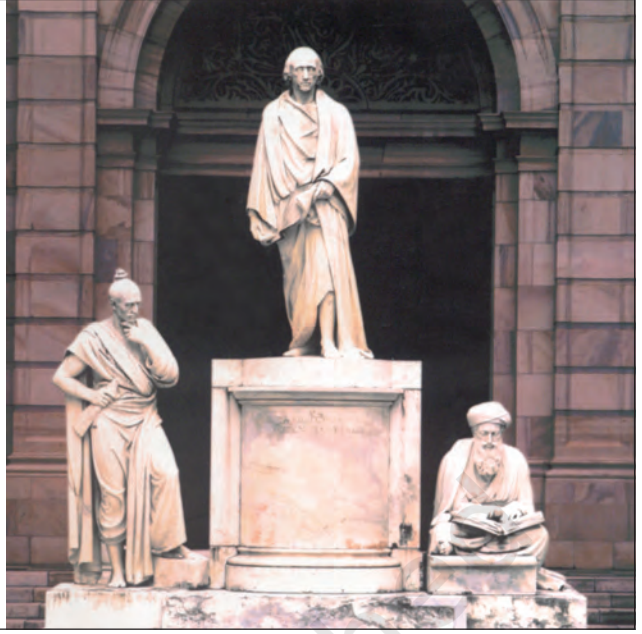
1791 में बनारस में हिन्दू कॉलेज की स्थापना की गई ताकि वहाँ प्राचीन संस्कृत ग्रंथों की शिक्षा दी जा सके और देश का शासन चलाने में मदद मिले।

परंतु कंपनी के सभी अफ़सर इन विचारों से सहमत नहीं थे। इनमें से बहुत सारे प्राच्यवादियों के कटु आलोचक भी थे।

"पूरब की जघन्य ग़लतियाँ"

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही बहुत सारे अंग्रेज़ अफ़सर शिक्षा के प्राच्यवादी दृष्टिकोण की आलोचना करने लगे थे। उनका कहना था कि पूर्वी समाजों का ज्ञान त्रुटियों से भरा हुआ और अवैज्ञानिक है। उनके मुताबिक, पूर्वी साहित्य अगंभीर और सतही था। इसीलिए उन्होंने दलील दी कि अंग्रेज़ों को अरबी और संस्कृत भाषा व साहित्य के अध्ययन को बढ़ावा देने पर इतना ख़र्चा नहीं करना चाहिए।

प्राच्यवादियों पर हमला करने वालों में जेम्स मिल प्रमुख थे। उनका विश्वास था कि अंग्रेज़ों को देशी जनता को खुश करने और 'उसका दिल जीतने' के लिए जनता की इच्छा के हिसाब से या उनकी भावनाओं को ध्यान में रखते हुए शिक्षा नहीं देनी चाहिए। उनकी राय में शिक्षा के ज़रिए उपयोगी और व्यावहारिक चीज़ों का ज्ञान दिया जाना चाहिए। इसलिए भारतीयों को पूर्वी समाजों के काव्य और धार्मिक साहित्य की बजाय ये पढ़ाया जाना चाहिए कि पश्चिम ने किस तरह की वैज्ञानिक और तकनीकी सफलताएँ हासिल कर ली हैं।

1830 के दशक तक प्राच्यवादियों का विरोध और तीखा हो गया था। थॉमस बैबिंगटन मैकॉले इन आलोचकों में सबसे मुखर और प्रभावशाली विचारक थे। वह भारत को असभ्य देश मानते थे जिसे सभ्यता का पाठ पढ़ाना ज़रूरी था। मैकॉले के मुताबिक, पूर्वी ज्ञान की कोई भी शाखा इंग्लैंड

प्राच्यवादी – एशिया की भाषा और संस्कृति का गहन ज्ञान रखने वाले लोग।

मुंशी – ऐसा व्यक्ति जो फ़ारसी पढ़ना, लिखना और पढ़ाना जानता हो।

वर्नाकुलर – यह शब्द आमतौर पर मानक भाषा से अलग किसी स्थानीय भाषा या बोली के लिए इस्तेमाल किया जाता है। भारत जैसे औपनिवेशिक देशों में अंग्रेज़ रोजमर्रा इस्तेमाल की स्थानीय भाषाओं और साम्राज्यवादी शासकों की भाषा अंग्रेज़ी के बीच फर्क को चिह्नित करने के लिए इस शब्द का इस्तेमाल करते थे।

चित्र 4 – थॉमस बैबिंगटन मैकॉले और उनका अध्ययन कक्ष।

की प्रगति के समकक्ष नहीं थी। मैकॉले का कहना था कि "एक अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय का केवल एक खाना ही भारत और अरब के समूचे देशी साहित्य के बराबर" है। उनका तर्क था कि भारत में ब्रिटिश सरकार को प्राच्यवादी ज्ञान पर सरकारी पैसा बरबाद नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे कोई फायदा होने वाला नहीं है।

गहन ऊर्जा और आवेशपूर्वक मैकॉले ने अंग्रेज़ी भाषा सिखाने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया। उनका मानना था कि अंग्रेज़ी के ज्ञान से भारतीयों को दुनिया की श्रेष्ठतम साहित्यिक कृतियों को पढ़ने का मौका मिलेगा; यहाँ के लोग पश्चिमी विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में हुए विकास से अवगत हो पाएंगे। इस प्रकार, उनका कहना था कि अंग्रेज़ी पढ़ाना लोगों को सभ्य बनाने, उनकी रुचियों, मूल्यों और संस्कृति को बदलने का रास्ता हो सकता है।

मैकॉले के मिनट्स (विवरण) के आधार पर 1835 का अंग्रेज़ों का शिक्षा अधिनियम पारित किया गया। ये फ़ैसला भी लिया गया कि अंग्रेज़ी को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाया जाए और कलकत्ता मदरसे तथा बनारस संस्कृत कॉलेज जैसे प्राच्यवादी संस्थानों को प्रोत्साहन न दिया जाए। इन संस्थानों को "अपने आप क्षरण का शिकार होते जा रहे अंधकार के मंदिरों" की संज्ञा दी गई। अब स्कूलों के लिए भी अंग्रेज़ी पाठ्यपुस्तकें छपने लगीं।

स्रोत 1

ज्ञानियों की भाषा?

अंग्रेज़ी पढ़ाने की ज़रूरत पर ज़ोर देते हुए मैकॉले ने यह कहा था :

> सभी पक्ष इस बात पर सहमत दिखाई देते हैं कि भारत के ... देशी लोगों द्वारा आमतौर पर बोली जाने वाली बोलियों में न तो साहित्यहिक जानकारियाँ होती हैं और न ही वैज्ञानिक। इसके अलावा, ये बोलियाँ इतनी दरिद्र और रूखी हैं कि अगर किसी और स्रोत से उनको समृद्ध न बनाया जाए तो किसी भी मूल्यवान कृति का उनमें अनुवाद भी नहीं किया जा सकता ....।

थॉमस बेबिंगटन मैकॉले, भारतीय शिक्षा के विषय में 2 फरवरी 1835 के मिनट्स।

व्यवसाय के लिए शिक्षा

1854 में ईस्ट इंडिया कंपनी के लंदन स्थित कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने भारतीय गवर्नर जनरल को शिक्षा के विषय में एक नोट भेजा। कंपनी के नियंत्रक मंडल के अध्यक्ष चार्ल्स वुड के नाम से जारी किए गए इस संदेश को वुड का नीतिपत्र (वुड्स डिस्पैच) के नाम से जाना जाता है। इस दस्तावेज़ में भारत में लागू की जाने वाली शिक्षा नीति की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए एक बार फिर दोहराया गया है कि प्राच्यवादी ज्ञान के स्थान पर यूरोपीय शिक्षा को अपनाने से कितने व्यावहारिक लाभ प्राप्त होंगे।

इस दस्तावेज़ में यूरोपीय शिक्षा का एक व्यावहारिक लाभ आर्थिक क्षेत्र में बताया गया था। उसके मुताबिक, यूरोपीय शिक्षा के माध्यम से भारतीयों को व्यापार और वाणिज्य के विस्तार से होने वाले लाभों को समझने और देश के संसाधनों के विकास का महत्त्व समझने में मदद मिलेगी। यदि उन्हें यूरोपीय जीवन शैली से अवगत कराया गया तो उनकी रुचियों और आकांक्षाओं में भी बदलाव आएगा और ब्रिटिश वस्तुओं की माँग पैदा होगी क्योंकि तब यहाँ के लोग यूरोप में बनी चीज़ों को अपनाना और खरीदना शुरू कर देंगे।

वुड के नीतिपत्र में यह तर्क भी दिया गया था कि यूरोपीय शिक्षा से भारतीयों के नैतिक चरित्र का उत्थान होगा। इससे वे ज़्यादा सत्यवादी और ईमानदार बन जाएंगे और फलस्वरूप कंपनी के पास भरोसेमंद कर्मचारियों की कमी नहीं रहेगी। दस्तावेज़ के मुताबिक, पूरब का साहित्य न केवल भयानक त्रुटियों से भरा पड़ा था बल्कि यह लोगों में न तो काम के प्रति दायित्व और समर्पण का भाव पैदा कर सकता है और न ही शासन के लिए आवश्यक निपुणता पैदा कर सकता है।

1854 के नीतिपत्र के बाद अंग्रेज़ों ने कई अहम कदम उठाए। सरकारी शिक्षा विभागों का गठन किया गया ताकि शिक्षा संबंधी सभी मामलों पर सरकार का नियंत्रण स्थापित किया जा सके। विश्वविद्यालयी शिक्षा की व्यवस्था विकसित करने के लिए भी कदम उठाए गए। 1857 में जब मेरठ और दिल्ली में सिपाही विद्रोह कर रहे थे उसी समय कलकत्ता, मद्रास और बम्बई विश्वविद्यालयों की स्थापना की जा रही थी। स्कूली शिक्षा प्रणाली में परिवर्तन के प्रयास भी किए गए।

स्रोत 2

यूरोपीय ज्ञान के पक्ष में एक तर्क

1854 के वुड के नीतिपत्र में प्राच्यवादी ज्ञान का विरोध करने वालों की निर्णायक विजय का संकेत था। इसमें कहा गया था:

> हमें ज़ोर देकर यह बात कहनी चाहिए कि भारत में हम जिस शिक्षा का प्रसार करना चाहते हैं उस शिक्षा का लक्ष्य यूरोप की श्रेष्ठतर कलाओं, सेवाओं, दर्शन और साहित्य यानी यूरोपीय ज्ञान का प्रसार करना है।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप 1850 के दशक में जी रहे हैं। आपने वुड के नीतिपत्र (वुड्स डिस्पैच) के बारे में सुना है। इसके बारे में अपनी प्रतिक्रियाएँ लिखिए।

चित्र 5 – उन्नीसवीं सदी में बम्बई विश्वविद्यालय।

नैतिक शिक्षा की माँग

चित्र 6 – स्कॉटलैंड के ईसाई प्रचारक विलियम केरे जिसने सेरामपुर मिश्न की स्थापना में मदद की।

उन्नीसवीं सदी में भारत में सक्रिय ईसाई प्रचारकों ने व्यावहारिक शिक्षा के पक्ष में दिए जा रहे तर्कों का घोर विरोध किया। प्रचारकों का मानना था कि शिक्षा का उद्देश्य लोगों के नैतिक चरित्र में सुधार लाना होता है और नैतिकता उत्थान केवल ईसाई शिक्षा के ज़रिए ही संभव है।

1813 तक ईस्ट इंडिया कंपनी भारत में प्रचारक गतिविधियों के विरुद्ध थी। कंपनी को भय था कि प्रचारकों की गतिविधियों की वजह से स्थानीय जनता के बीच असंतोष पैदा होगा और लोग भारत में अंग्रेज़ों की उपस्थिति को शक की नज़र से देखने लगेंगे। ब्रिटिश नियंत्रण वाले भूक्षेत्रों में अपनी संस्थाएँ न खोल पाने की वजह से प्रचारकों ने अंतत: सेरामपुर में अपना मिशन खोला। यह इलाका डेनिश ईस्ट इंडिया कंपनी के नियंत्रण में आता था। वर्ष 1800 में एक छापाखाना लगाया गया और 1818 में एक कॉलेज खोला गया।

उन्नीसवीं सदी के दौरान पूरे भारत में प्रचारक स्कूल खोले गए। परंतु 1857 के बाद भारत की ब्रिटिश सरकार प्रचारक शिक्षा को प्रत्यक्ष सहायता देने में आनाकानी करने लगी थी। सरकार को लगता था कि स्थानीय रीति-रिवाज़ों, व्यवहारों, मूल्य-मान्यताओं और धार्मिक विचारों से किसी भी तरह की छेड़छाड़ "देशी" लोगों को भड़का सकती है।

चित्र 7 – कलकत्ता के पास हुगली नदी के तट पर स्थित सेरामपुर कॉलेज।

स्थानीय पाठशालाओं का क्या हुआ?

चित्र 8 - एक ग्रामीण पाठशाला।
यह फ़्रांसवाँ सॉल्विन नामक डच पेंटर द्वारा बनाया गया चित्र है। फ़्रांसवाँ अठारहवीं सदी के आख़िर में भारत आए थे। अपने चित्रों में उन्होंने लोगों के दैनिक जीवन को दर्शाने का प्रयास किया है।

क्या आपको कुछ अंदाज़ा है कि अंग्रेज़ों से पहले यहाँ बच्चों को किस तरह पढ़ाया जाता था? क्या आपने कभी सोचा है कि उस समय बच्चे स्कूल जाते भी थे या नहीं? और अगर स्कूल थे तो ब्रिटिश शासन के तहत उनका क्या हुआ?

विलियम एडम की रिपोर्ट

1830 के दशक में स्कॉटलैंड से आए ईसाई प्रचारक विलियम एडम ने बंगाल और बिहार के ज़िलों का दौरा किया। कंपनी ने उन्हें देशी स्कूलों में शिक्षा की प्रगति पर रिपोर्ट तैयार करने का जिम्मा सौंपा था। एडम ने जो रिपोर्ट तैयार की वह दिलचस्प थी।

एडम ने पाया कि बंगाल और बिहार में एक लाख से ज़्यादा पाठशालाएँ हैं। ये बहुत छोटे-छोटे केंद्र थे जिनमें आम तौर पर 20 से ज़्यादा विद्यार्थी नहीं होते थे। फिर भी, इन पाठशालाओं में पढ़ने वाले बच्चों की कुल संख्या काफ़ी बड़ी – यानी बीस लाख से भी ज़्यादा – थी। ये पाठशालाएँ सम्पन्न लोगों या स्थानीय समुदाय द्वारा चलाई जा रही थीं। कई पाठशालाएँ स्वयं गुरु द्वारा ही प्रारम्भ की गई थीं।

शिक्षा का तरीका काफ़ी लचीला था। आज आप जिन चीज़ों की स्कूलों से उम्मीद करते हैं उनमें से कुछ चीज़ें उस समय की पाठशालाओं में भी मौजूद थीं। बच्चों की फ़ीस निश्चित नहीं थी। छपी हुई किताबें नहीं होती थीं, पाठशाला की इमारत अलग से नहीं बनाई जाती थी, बेंच और कुर्सियाँ नहीं होती थीं, ब्लैक बोर्ड नहीं होते थे, अलग से कक्षाएँ लेने, बच्चों की हाज़िरी लेने का कोई इंतज़ाम नहीं होता था, सालाना इम्तेहान और नियमित समय-सारणी जैसी कोई व्यवस्था नहीं थी। कुछ पाठशालाएँ बरगद की छाँव में ही चलती थीं तो कई गाँव की किसी दुकान या मंदिर के कोने में या गुरु के घर पर ही बच्चों को पढ़ाया जाता था। बच्चों की फ़ीस उनके माँ-बाप की आमदनी से तय होती थी : अमीरों को ज़्यादा और गरीबों को कम फ़ीस देनी पड़ती थी। शिक्षा मौखिक होती थी और क्या पढ़ाना है यह बात विद्यार्थियों की ज़रूरतों को देखते हुए गुरु ही तय करते थे। विद्यार्थियों को अलग कक्षाओं में नहीं बिठाया जाता था। सभी एक जगह, एक साथ बैठते थे। अलग-अलग स्तर के विद्यार्थियों के साथ गुरु अलग से बात कर लेते थे।

एडम ने पाया कि यह लचीली प्रणाली स्थानीय आवश्यकताओं के लिए काफ़ी अनुकूल है। उदाहरण के लिए, फ़सलों की कटाई के समय कक्षाएँ बंद हो जाती थीं क्योंकि उस समय गाँव के बच्चे प्राय: खेतों में काम करने चले जाते थे। कटाई और अनाज निकल जाने के बाद पाठशाला दोबारा शुरू हो जाती थी। इसका परिणाम यह था कि साधारण काश्तकारों के बच्चे भी पढ़ाई कर सकते थे।

गतिविधि

1. कल्पना कीजिए कि आप 1850 के दशक में एक गरीब परिवार में पैदा हुए हैं। अब बताएँ कि सरकार द्वारा नियंत्रित पाठशालाओं पर आपकी क्या राय होगी?
2. क्या आपको मालूम है कि प्राथमिक स्कूलों में दाखिला लेने वाले बच्चों में से लगभग 50 प्रतिशत बच्चे 13-14 साल की उम्र तक पहुँचते-पहुँचते स्कूल छोड़ चुके होते हैं? क्या आप बता सकते हैं कि इस स्थिति के कारण क्या हैं?

चित्र 9- अरविंदो घोष

अरविंदों घोष ने 15 जनवरी 1908 को बॉम्बे (मुंबई) में अपने एक सम्भाषण में राष्ट्रीय शिक्षा पर बोलते हुए कहा कि इसका लक्ष्य छात्रों में राष्ट्रीयता का भाव जागृत करना है। इसके लिए अपने पूर्वजों के साहसिक कार्यों पर गहराई से चिंतन करना आवश्यक होगा। शिक्षा को मातृ-भाषा में होना चाहिए ताकि यह अधिक-से-अधिक लोगों तक पहुंच सके। अरविंदो ने इस बात पर भी बल दिया कि यद्यपि छात्रों को अपने मूल के साथ जुड़े रहना चाहिए, फिर भी उनको आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों तथा लोकप्रिय शासन व्यवस्था के संदर्भ में पश्चिमी देशों के अनुभव का भी भरपूर लाभ उठाना चाहिए। इसके अतिरिक्त छात्रों को कोई हस्तकला भी सीखनी चाहिए ताकि वे स्कूल छोड़ने पर यथा संभव रोजगार पा सकें।

नई दिनचर्या, नए नियम

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक कंपनी का ध्यान मुख्य रूप से उच्च शिक्षा पर था। इसीलिए कंपनी ने स्थानीय पाठशालाओं के कामकाज में कभी ज़्यादा दखल नहीं दिया। 1854 के बाद कंपनी ने देशी शिक्षा व्यवस्था में सुधार लाने का फैसला लिया। कंपनी का मानना था कि इसके लिए मौजूदा व्यवस्था के भीतर ही बदलाव किये जा सकते हैं। कंपनी एक नई दिनचर्या, नए नियमों और नियमित निरीक्षणों के ज़रिए पाठशालाओं को और व्यवस्थित करना चाहती थी।

इसके लिए क्या किया जा सकता था? कंपनी ने क्या कदम उठाए? सबसे पहले तो कंपनी ने बहुत सारे पंडितों को सरकारी नौकरी पर रख लिया। इनमें से प्रत्येक पंडित को 4-5 स्कूलों की देखरेख का जिम्मा सौंपा जाता था। पंडितों का काम पाठशालाओं का दौरा करना और वहाँ अध्यापन की स्थितियों में सुधार लाना था। प्रत्येक गुरु को निर्देश दिया गया कि वे समय-समय पर अपने स्कूल के बारे में रिपोर्ट भेजें और कक्षाओं को नियमित समय-सारणी के अनुसार पढ़ाएँ। अब अध्यापन पाठ्यपुस्तकों पर आधारित होगा और विद्यार्थियों की प्रगति को मापने के लिए वार्षिक परीक्षाओं की रूपरेखा तैयार की जाने लगी। विद्यार्थियों से कहा गया कि वे नियमित रूप से शुल्क दें, नियमित रूप से कक्षा में आएँ, तय सीट पर बैठें और अनुशासन के नियमों का पालन करें।

नए नियमों पर चलने वाली पाठशालाओं को सरकारी अनुदान मिलने लगे। जो पाठशालाएँ नई व्यवस्था के भीतर काम करने को तैयार नहीं थीं उन्हें कोई सरकारी सहायता नहीं दी जाती थी। जिन गुरुओं ने सरकारी निर्देशों का पालन करने की बजाय अपनी स्वतंत्रता बनाए रखी वे सरकारी सहायता प्राप्त और नियमों से चलने वाली पाठशालाओं के सामने कमज़ोर पड़ने लगे।

इन नए नियमों और दिनचर्या का एक और भी नतीजा हुआ। पहले वाली व्यवस्था में गरीब किसानों के बच्चे भी पाठशालाओं में जा सकते थे क्योंकि शालाओं की समय-सारणी काफ़ी लचीली होती थी। नई व्यवस्था के अनुशासन की माँग थी कि बच्चे नियमित रूप से स्कूल आएँ। अब कटाई के मौसम में भी बच्चों का स्कूल में आना ज़रूरी था जबकि उस समय गरीब घरों के बच्चे खेतों में काम करने जाया करते थे। अगर कोई बच्चा स्कूल नहीं आ पाता था तो इसे अनुशासनहीनता माना जाता था यानी, बच्चा पढ़ना-लिखना ही नहीं चाहता।

राष्ट्रीय शिक्षा की कार्यसूची

केवल अंग्रेज़ अफ़सर ही भारत में शिक्षा के बारे में नहीं सोच रहे थे। उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही भारत के विभिन्न भागों के बहुत सारे विचारक शिक्षा के व्यापक प्रसार की ज़रूरत पर ज़ोर देने लगे थे। यूरोप में आ रहे बदलावों से प्रभावित कुछ भारतीयों का मानना था कि पश्चिमी शिक्षा भारत का आधुनिकीकरण कर सकती है। उन्होंने अंग्रेज़ों से आह्वान किया कि वे नए स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय खोलें तथा शिक्षा पर ज़्यादा पैसा

ख़र्च करें। इस दिशा में हुए कुछ प्रयासों के बारे में आप अध्याय 9 में पढ़ेंगे। परंतु बहुत सारे भारतीय पश्चिमी शिक्षा के विरुद्ध थे। महात्मा गांधी और रवीन्द्रनाथ टैगोर इसी तरह के लोगों में से थे।

आइए देखें कि उनका क्या कहना था।

"अंग्रेज़ी शिक्षा ने हमें गुलाम बना दिया है"

महात्मा गांधी का कहना था कि औपनिवेशिक शिक्षा ने भारतीयों के मस्तिष्क में हीनता का बोध पैदा कर दिया है। इसके प्रभाव में आकर यहाँ के लोग पश्चिमी सभ्यता को श्रेष्ठतर मानने लगे हैं और अपनी संस्कृति के प्रति उनका गौरव भाव नष्ट हो गया है। महात्मा गांधी ने कहा कि इस शिक्षा में विष भरा है, यह पापपूर्ण है, इसने भारतीयों को दास बना दिया है, इसने लोगों पर प्रभाव डाला है। उनके मुताबिक, पश्चिम से अभिभूत, पश्चिम से आने वाली हर चीज़ की प्रशंसा करने वाले, इन संस्थानों में पढ़ने वाले भारतीय ब्रिटिश शासन को पसंद करने लगे थे। महात्मा गांधी एक ऐसी शिक्षा के पक्षधर थे जो भारतीयों के भीतर प्रतिष्ठा और स्वाभिमान का भाव पुनर्जीवित करे। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान उन्होंने विद्यार्थियों से आह्वान किया कि वे शिक्षा संस्थानों को छोड़ दें और अंग्रेज़ों को बताएँ कि अब वे गुलाम बने रहने के लिए तैयार नहीं हैं।

महात्मा गांधी की दृढ़ मान्यता थी कि शिक्षा केवल भारतीय भाषाओं में ही दी जानी चाहिए। उनके मुताबिक, अंग्रेज़ी में दी जा रही शिक्षा भारतीयों को अपाहिज बना देती है, उसने उन्हें अपने सामाजिक परिवेश से काट दिया है और उन्हें "अपनी ही भूमि पर अजनबी" बना दिया है। उनकी राय में, विदेशी भाषा बोलने वाले, स्थानीय संस्कृति से घृणा करने वाले अंग्रेज़ी शिक्षित भारतीय अपनी जनता से जुड़ने के तौर-तरीके भूल चुके थे।

महात्मा गांधी का कहना था कि पश्चिमी शिक्षा मौखिक ज्ञान की बजाय केवल पढ़ने और लिखने पर केंद्रित है। उसमें पाठ्यपुस्तकों पर तो ज़ोर दिया जाता है लेकिन जीवन अनुभवों और व्यावहारिक ज्ञान की उपेक्षा की जाती है। गांधी का तर्क था कि शिक्षा से व्यक्ति का दिमाग और आत्मा विकसित होनी चाहिए। उनकी राय में केवल साक्षरता – यानी पढ़ने और लिखने की क्षमता पा लेना – ही शिक्षा नहीं होती। इसके लिए तो लोगों को हाथ से काम करना पड़ता है, हुनर सीखने पड़ते हैं और यह जानना पड़ता है कि विभिन्न चीज़ें किस तरह काम करती हैं। इससे उनका मस्तिष्क और समझने की क्षमता, दोनों विकसित होंगे।
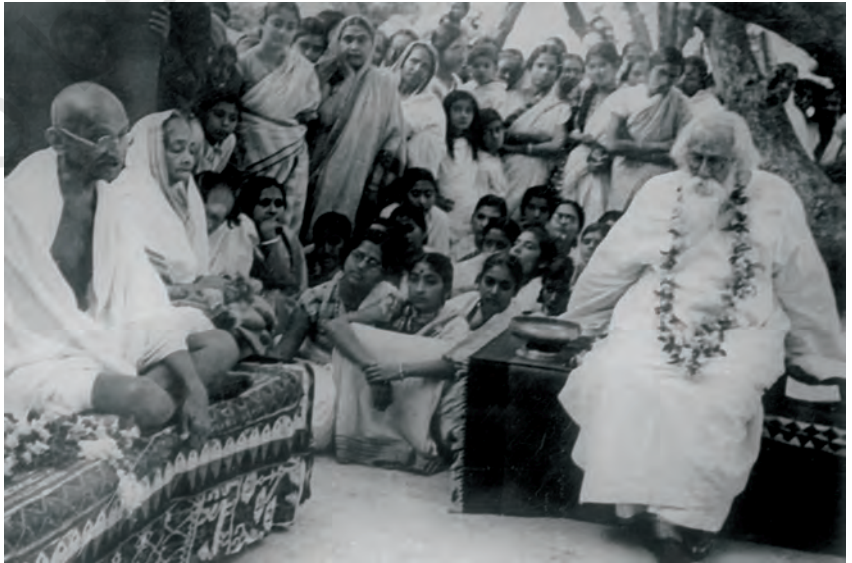
***चित्र 10** – महात्मा गांधी और कस्तूरबा गांधी शांति निकेतन में रवीन्द्रनाथ टैगोर और लड़कियों की एक टोली के साथ बैठे हैं, 1940.*

स्रोत 3

"साक्षरता ही शिक्षा नहीं है"

महात्मा गांधी ने लिखा था :

> शिक्षा से मेरा मतलब इस बात से है कि बालक और मनुष्य के देह, मस्तिष्क और भावना के श्रेष्ठ तत्वों को सामने लाया जाए। साक्षरता न तो शिक्षा का अंत है और न ही उसकी शुरुआत। यह तो केवल एक साधन है जिसके ज़रिए पुरुषों और महिलाओं को शिक्षा दी जा सकती है। साक्षरता अपने आप में शिक्षा नहीं होती। लिहाज़ा, मैं बच्चों को शिक्षित करते हुए सबसे पहले उन्हें कोई उपयोगी हस्तकौशल सिखाऊँगा और उन्हें शुरू से ही कुछ रचने, पैदा करने के लिए तैयार करूँगा...। मेरा मानना है कि दिमाग और आत्मा का सर्वोच्च विकास इस तरह की शिक्षा में ही संभव है। प्रत्येक हस्तकौशल आज की तरह केवल यांत्रिक ढंग से ही नहीं बल्कि वैज्ञानिक ढंग से पढ़ाया जाना चाहिए, यानी बच्चे को प्रत्येक प्रक्रिया के क्यों और किसलिए का पता होना चाहिए।

द *कलैक्टिड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, खंड 72, पृ. 79*

जैसे-जैसे राष्ट्रीय भावना का प्रसार हुआ, कई दूसरे विचारक भी एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के बारे में सोचने लगे जो अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित की गई व्यवस्था से आमूल तौर पर भिन्न हो।

टैगोर का "शांतिनिकेतन"

आप में से बहुत सारे दोस्तों ने शांतिनिकेतन के बारे में सुना होगा। क्या आप जानते हैं कि इसकी स्थापना किसने और क्यों की थी?

रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह संस्था 1901 में शुरू की थी। टैगोर जब बच्चे थे तो स्कूल जाने से बहुत चिढ़ते थे। वहाँ उनका दम घुटता था। उन्हें स्कूल का माहौल दमनकारी लगता था। टैगोर को ऐसे लगता था मानो स्कूल कोई जेल हो, क्योंकि वहाँ बच्चे मनचाहा कभी नहीं कर पाते थे। जब दूसरे बच्चे शिक्षक को सुन रहे होते थे, टैगोर का दिमाग कहीं और भटक रहा होता था।

चित्र 11 – शांतिनिकेतन में एक कक्षा चल रही है, 1930 का दशक।
आस-पास का माहौल देखिए, चारों तरफ पेड़ और खुली जगह है।

कलकत्ता के अपने स्कूल जीवन के अनुभवों ने शिक्षा के बारे में टैगोर के विचारों को काफ़ी प्रभावित किया। जब वे बड़े हुए तो उन्होंने एक ऐसा स्कूल खोलने के बारे में सोचा जहाँ बच्चे

खुश रह सकें, जहाँ वे मुक्त और रचनाशील हों, जहाँ वे अपने विचारों और आकांक्षाओं को समझ सकें। टैगोर को लगता था कि बचपन का समय अपने आप सीखने का समय होना चाहिए। वह अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित की गई शिक्षा व्यवस्था के कड़े और बंधनकारी अनुशासन से मुक्त होना चाहिए। शिक्षक कल्पनाशील हों, बच्चों को समझते हों और उनके अंदर उत्सुकता, जानने की चाह विकसित करने में मदद दें। टैगोर के मुताबिक, वर्तमान स्कूल बच्चे की रचनाशीलता, चकित होने के उसके स्वाभाविक गुण को मार देते हैं।

टैगोर का मानना था कि सृजनात्मक शिक्षा को केवल प्राकृतिक परिवेश में ही प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसीलिए उन्होंने कलकत्ता से 100 किलोमीटर दूर एक ग्रामीण परिवेश में अपना स्कूल खोलने का फैसला लिया। उन्हें यह जगह निर्मल शांति से भरी (शांतिनिकेतन) दिखाई दी जहाँ प्रकृति के साथ जीते हुए बच्चे अपनी स्वाभाविक सृजनात्मक मेधा को और विकसित कर सकते थे।

बहुत सारे मामलों में टैगोर और महात्मा गांधी शिक्षा के बारे में कमोबेश एक जैसी राय रखते थे। लेकिन दोनों के बीच फ़र्क़ भी थे। गांधीजी पश्चिमी सभ्यता और मशीनों व प्रौद्योगिकी की उपासना के कट्टर आलोचक थे। टैगोर आधुनिक पश्चिमी सभ्यता और भारतीय परंपरा के श्रेष्ठ तत्वों का सम्मिश्रण चाहते थे। उन्होंने शांतिनिकेतन में कला, संगीत और नृत्य के साथ-साथ विज्ञान और प्रौद्योगिकी की शिक्षा पर भी ज़ोर दिया।

इस प्रकार, बहुत सारे लोग इस बारे में सोचने लगे थे कि एक राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली की रूपरेखा क्या होनी चाहिए। कुछ लोग अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित की गई व्यवस्था में परिवर्तन चाहते थे। उनका मानना था कि इसी व्यवस्था को इस तरह फैलाया जाए कि उसमें ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को पढ़ने के मौके मिलें। इसके विपरीत बहुत सारे लोग ऐसे भी थे जो एक वैकल्पिक व्यवस्था चाहते थे ताकि लोगों को सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय संस्कृति की शिक्षा दी जा सके। कौन तय करे कि सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय क्या होता है? इस "राष्ट्रीय शिक्षा" की बहस स्वतंत्रता के बाद भी जारी रही।

***चित्र 12** – कोयम्बटूर के एक प्रचारक स्कूल में खेल रहे बच्चे, बीसवीं सदी का प्रारंभ।*
उन्नीसवीं सदी के मध्य तक ईसाई प्रचारक और भारतीय सुधारवादी संगठन लड़कियों के लिए स्कूल खोलने लगे थे।

अन्यत्र

सभ्य करने के लिए शिक्षा

1870 में शिक्षा अधिनियम लागू होने तक आमतौर पर पूरी आबादी के लिए व्यापक शिक्षा व्यवस्था नहीं थी। बाल मज़दूरी बहुत बड़े पैमाने पर थी इसलिए गरीब अपने बच्चों को स्कूल नहीं भेज पाते थे। परिवार चलाने के लिए उनकी आय महत्त्वपूर्ण थी। स्कूल भी बहुत कम थे। ज़्यादातर स्कूल चर्च या रईसों द्वारा स्थापित किए गए थे। शिक्षा अधिनियम लागू होने के बाद सरकार ने नए-नए स्कूल खोलने शुरू किए और अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान किया गया।

टॉमस आरनॉल्ड उस दौर के सबसे महत्त्वपूर्ण शैक्षणिक विचारकों में से एक थे। वह रग्बी नामक प्राइवेट स्कूल के मुख्य अध्यापक थे। माध्यमिक स्कूल की पाठ्यचर्या में 2000 साल पुरानी ग्रीक और रोमन शास्त्रीय कृतियों के विस्तृत अध्ययन की हिमायत करते हुए उन्होंने कहा था :

> मुझे हमेशा ऐसा प्रतीत हुआ कि हमारे अंग्रेज़ी स्कूलों में जो अध्ययन क्रम अपनाया जाता है उसकी सबसे अच्छी बात यह है कि वह हमारे दिमाग को लगातार अतीत के बारे में सोचने के लिए प्रेरित करता है। हर रोज हम भाषाओं, इतिहास और कुछ साल पहले या हज़ारों साल पहले के विचारों को पढ़ते रहते हैं...।

आरनॉल्ड का मानना था कि शास्त्रीय कृतियों के अध्ययन से दिमाग अनुशासित होता है। वास्तव में, उस काल के ज़्यादातर शिक्षाविदों की मान्यता थी कि इस तरह का अनुशासन बहुत ज़रूरी है क्योंकि बच्चे स्वाभाविक रूप से असभ्य होते हैं और उन्हें नियंत्रित करना आवश्यक है। सभ्य वयस्क के रूप में विकसित होने के लिए उन्हें मालूम होना चाहिए कि समाज में सही और गलत क्या है और उचित और अनुचित आचरण क्या होता है। शिक्षा, खासतौर से बच्चों के दिमाग को अनुशासित करने वाली शिक्षा, का मकसद उन्हें इसी मार्ग पर आगे ले जाना था।

क्या आप बता सकते हैं कि इस तरह के विचारों ने इंग्लैंड में गरीबों तथा उपनिवेशों में "देशी जनता" की शिक्षा से संबंधित सोच को किस तरह प्रभावित किया होगा?

आइए कल्पना करें

कल्पना कीजिए कि अंग्रेज़ी शिक्षा पर महात्मा गांधी और मैकॉले के बीच चर्चा चल रही है और आप ध्यान से चर्चा सुन रहे हैं। आप एक पन्ने में लिखें कि दोनों क्या कह रहे हैं।

फिर से याद करें

1. निम्नलिखित के जोड़े बनाएँ :

विलियम जोन्स	अंग्रेज़ी शिक्षा को प्रोत्साहन
रवीन्द्रनाथ टैगोर	प्राचीन संस्कृतियों का सम्मान
टॉमस मैकॉले	गुरु
महात्मा गांधी	प्राकृतिक परिवेश में शिक्षा
पाठशालाएँ	अंग्रेज़ी शिक्षा के विरुद्ध

2. निम्नलिखित में से सही या गलत बताएँ :

(क) जेम्स मिल प्राच्यवादियों के घोर आलोचक थे।

(ख) 1854 के शिक्षा संबंधी डिस्पैच में इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि भारत में उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी होना चाहिए।

(ग) महात्मा गांधी मानते थे कि साक्षरता बढ़ाना ही शिक्षा का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है।

(घ) रवीन्द्रनाथ टैगोर को लगता था कि बच्चों पर सख्त अनुशासन होना चाहिए।

आइए विचार करें

3. विलियम जोन्स को भारतीय इतिहास, दर्शन और कानून का अध्ययन क्यों ज़रूरी दिखाई देता था?

4. जेम्स मिल और टॉमस मैकॉले ऐसा क्यों सोचते थे कि भारत में यूरोपीय शिक्षा अनिवार्य है?

5. महात्मा गांधी बच्चों को हस्तकलाएँ क्यों सीखाना चाहते थे?

6. महात्मा गांधी ऐसा क्यों सोचते थे कि अंग्रेज़ी शिक्षा ने भारतीयों को गुलाम बना लिया है?

आइए करके देखें

7. अपने घर के बुर्जुगों से पता करें कि स्कूल में उन्होंने कौन-कौन सी चीज़ें पढ़ी थीं?

8. अपने स्कूल या आस-पास के किसी अन्य स्कूल के इतिहास का पता लगाएँ।

9 महिलाएँ, जाति एवं सुधार

क्या आपने कभी सोचा है कि दो सौ साल पहले बच्चों की ज़िंदगी कैसी रही होगी? आजकल मध्यवर्गीय परिवारों की ज़्यादातर लड़कियाँ स्कूल जाती हैं और उनमें से बहुत सारी लड़कों के साथ पढ़ती हैं। बड़ी होने पर उनमें से बहुत सारी लड़कियाँ कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में जाती हैं और विभिन्न प्रकार की नौकरियाँ करती हैं। कानूनन शादी के लिए उनका बालिग होना ज़रूरी है और कानून के अनुसार, वे किसी भी जाति व समुदाय के व्यक्ति से शादी कर सकती हैं। यहाँ तक कि विधवाएँ भी दोबारा शादी कर सकती हैं। पुरुषों की तरह सभी महिलाएँ वोट डाल सकती हैं और चुनाव लड़ सकती हैं। बेशक, सभी महिलाएँ इन अधिकारों का उपभोग नहीं कर पातीं। गरीबों को शिक्षा के मौके मुश्किल से मिलते हैं, कम मिलते हैं या मिल ही नहीं पाते। बहुत सारे परिवारों में लड़कियाँ अपनी इच्छानुसार पति भी नहीं चुन सकतीं।

चित्र 1 – सती, बालथाज़र सॉल्विन द्वारा बनाया गया चित्र, 1813.
भारत आने वाले यूरोपीय चित्रकारों द्वारा बनाई गई सती की बहुत सारी तसवीरों में से यह एक है। सती प्रथा को पूर्वी समाजों की बर्बरता के सबूत के तौर पर देखा जाता था।

दो सौ साल पहले हालात बहुत भिन्न थे। ज़्यादातर बच्चों की शादी बहुत कम उम्र में ही कर दी जाती थी। हिंदू व मुसलमान, दोनों धर्मों के पुरुष एक से ज़्यादा पत्नियाँ रख सकते थे। देश के कुछ भागों में विधवाओं से ये उम्मीद की जाती थी कि वे अपने पति की चिता के साथ ही जिंदा जल जाएँ। इस तरह स्वेच्छा से या जबरदस्ती मार दी गई महिलाओं को "सती" कहकर महिमामंडित किया जाता था। 'सती' शब्द का अर्थ ही सदाचारी महिला था। संपत्ति पर भी महिलाओं के अधिकार बहुत सीमित थे। शिक्षा तक महिलाओं की प्रायः कोई पहुँच नहीं थी। देश के बहुत सारे भागों में लोगों का विश्वास था कि अगर औरत पढ़ी-लिखी होगी तो वह जल्दी विधवा हो जाएगी।

समाज में सिर्फ स्त्रियों और पुरुषों के बीच ही फर्क नहीं था। ज़्यादातर इलाकों में लोग जातियों में भी बँटे हुए थे। ब्राह्मण और क्षत्रिय खुद को "ऊँची जाति" का मानते थे। इसके बाद व्यापार और महाजनी आदि से जुड़ी जातियों (जिन्हें प्राय: वैश्य कहा जाता था) का स्थान आता था। फिर काश्तकार, बुनकर व कुम्हार जैसे दस्तकार आते थे (जिन्हें शूद्र कहा जाता था)। इस श्रेणीक्रम की सबसे निचली पायदान पर ऐसी जातियाँ थीं जो गाँवों-शहरों को साफ-सुथरा रखती थीं या ऐसे काम धंधे करती थीं जिन्हें ऊँची जातियों के लोग "दूषित कार्य" मानते थे यानी ऐसे काम जिनकी वजह से उनकी जाति 'भ्रष्ट' हो जाती थी। ऊँची जातियाँ निचले पायदान पर खड़ी इन जातियों के लोगों को "अछूत" मानती थीं। इन लोगों को मंदिरों में प्रवेश करने, सवर्ण जातियों के इस्तेमाल वाले कुओं से पानी निकालने या ऊँची जातियों के अधिपत्य वाले घाट-तालाबों पर नहाने की छूट नहीं होती थी। उन्हें निम्न दर्जे का मनुष्य माना जाता था।

उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के दौरान इनमें से बहुत सारे कायदे-कानून और नज़रिये धीरे-धीरे बदलते गए। आइए देखें कि ऐसा कैसे हुआ।

परिवर्तन की दिशा में उठते कदम

उन्नीसवीं सदी की शुरुआत से ही हमें सामाजिक रीति-रिवाज़ों और मूल्य-मान्यताओं से संबंधित बहस-मुबाहिसे और चर्चाओं का स्वरूप बदलता दिखाई देता है। इसकी एक अहम वजह यह थी कि संचार के नए तरीके विकसित हो रहे थे। पहली बार किताबें, अखबार, पत्रिकाएँ, पर्चे और पुस्तिकाएँ छप रही थीं। ये चीज़ें न केवल पुराने साधनों के मुकाबले सस्ती थीं बल्कि उन पांडुलिपियों के मुकाबले ज़्यादा लोगों की पहुँच में भी थीं जिनके बारे में आप कक्षा 7 में पढ़ चुके हैं। लिहाज़ा, आम लोग भी उन चीज़ों को पढ़ सकते थे। उनमें से बहुत सारे अपनी भाषाओं में लिख सकते थे और अपने विचार व्यक्त कर सकते थे। नए शहरों में तमाम तरह के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक मुद्दों पर पुरुषों (और कभी-कभी महिलाओं) के बीच चर्चा होती रहती थी। ये चर्चाएँ आम जनता तक पहुँच सकती थीं और सामाजिक परिवर्तन के आंदोलनों से जुड़ी होती थीं।

इस तरह की बहसें अकसर भारतीय सुधारकों और सुधार संगठनों की तरफ से शुरू होती थीं। राजा राममोहन रॉय (1772-1833) इसी तरह के एक सुधारक थे। उन्होंने कलकत्ता में ब्रह्मो सभा के नाम से एक सुधारवादी संगठन बनाया था (जिसे बाद में ब्रह्मो समाज के नाम से जाना गया)। राममोहन रॉय जैसे लोगों को सुधारक इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे मानते थे कि समाज में परिवर्तन लाना और अन्यायपूर्ण तौर-तरीकों से छुटकारा पाना ज़रूरी है। उनका विचार था कि इस तरह के परिवर्तन लाने के लिए लोगों को इस बात के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए कि वे पुराने व्यवहार को छोड़कर जीवन का नया ढंग अपनाने के लिए तैयार हों।

गतिविधि

क्या आप बता सकते हैं कि जब किताबें, समाचारपत्र और पर्चे आदि छापने की तकनीक नहीं थी उस समय सामाजिक रीति-रिवाज़ों और व्यवहारों के बारे में किस तरह चर्चा चलती होगी?

चित्र 2 – राजा राममोहन रॉय, रेमब्रांट पील द्वारा बनाया गया चित्र, 1833.

राममोहन रॉय देश में पश्चिमी शिक्षा का प्रसार करने और महिलाओं के लिए ज़्यादा स्वतंत्रता व समानता के पक्षधर थे। उन्होंने इस बारे में लिखा है कि किस तरह महिलाओं को जबरन घरेलू कामों से बाँधकर रखा जाता था, उनकी दुनिया घर और रसोई तक ही सीमित कर दी जाती थी और उन्हें बाहर जाकर पढ़ने-लिखने की इजाज़त नहीं दी जाती थी।

विधवाओं की ज़िंदगी में बदलाव लाने की कोशिश

राममोहन रॉय इस बात से काफ़ी दुखी थे कि विधवा औरतों को अपनी ज़िंदगी में भारी कष्टों का सामना करना पड़ता है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सती प्रथा के खिलाफ़ मुहिम छेड़ी थी।

राममोहन रॉय संस्कृत, फ़ारसी तथा अन्य कई भारतीय एवं यूरोपीय भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने अपने लेखन के ज़रिए यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्राचीन ग्रंथों में विधवाओं को जलाने की अनुमति कहीं नहीं दी गई है। जैसा कि आपने अध्याय 7 में पढ़ा है, उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ तक बहुत सारे अंग्रेज़ अफ़सर भी भारतीय परंपराओं और रीति-रिवाज़ों की आलोचना करने लगे थे। वे राममोहन रॉय के विचारों को सही मानते थे क्योंकि उनकी एक विद्वान व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठा थी। फलस्वरूप, 1829 में सती प्रथा पर पाबंदी लगा दी गई।

राममोहन रॉय ने इस अभियान के लिए जो रणनीति अपनाई उसे बाद के सुधारकों ने भी अपनाया। जब भी वे किसी हानिकारक प्रथा को चुनौती देना चाहते थे तो अकसर प्राचीन धार्मिक ग्रंथों से ऐसे श्लोक या वाक्य ढूँढ़ने का प्रयास करते थे जो उनकी सोच का समर्थन करते हों। इसके बाद वे दलील देते थे कि संबंधित वर्तमान रीति-रिवाज़ प्रारंभिक परंपरा के ख़िलाफ़ हैं।

चित्र 3 – कुंडों पर झूलने का त्योहार।

इस लोकप्रिय त्योहार में भक्त पारंपरिक अनुष्ठानों के तहत अजीब तरह से कष्ट सहने का अभ्यास करते थे। वे अपनी खाल में कुंडा भेदकर एक झूले पर लटक जाते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जब यूरोपीय अफ़सरों ने भारतीय रीति-रिवाज़ों और अनुष्ठानों को बर्बर कहकर उनकी आलोचना शुरू की तो इस त्योहार की खासतौर से आलोचना की गई।

स्रोत 1

"पहले हम उन्हें लकड़ियों में बाँध देते हैं"

राममोहन रॉय ने अपने विचारों का प्रसार करने के लिए बहुत सारे पर्चे लिखे थे। इनमें से कुछ पर्चे किसी खास रिवाज़ के समर्थक और आलोचकों के बीच बहस के रूप में लिखे गए थे। सती प्रथा के बारे में इसी तरह का एक उदाहरण देखिए:

सती समर्थक :

औरतें कुदरती तौर पर कम समझदार, बिना दृढ़ संकल्प वाली, भरोसे के योग्य नहीं होती हैं। ...उनमें से बहुत सारी खुद ही अपने पति की मृत्यु के बाद उसके साथ जाने की कामना करने लगती हैं; परंतु वे कहीं धधकती आग से भाग न निकलें, इसलिए पहले हम उन्हें चिता की लकड़ियों में कस कर बाँध देते हैं।

सती विरोधी :

आप लोगों ने महिलाओं को अपनी स्वाभाविक क्षमता का प्रदर्शन करने का सही मौका ही कब दिया? फिर भला तुम ये कैसे कह सकते हो कि उनमें समझ नहीं होती? अगर ज्ञान और शिक्षा के बाद भी कोई व्यक्ति न समझ सकता हो या पढ़ाई गई चीज़ों को ग्रहण न कर पाए तो हम उसे अक्षम मान सकते हैं; परंतु अगर तुम औरतों को पढ़ने का मौका ही नहीं दोगे तो तुम उन्हें कमतर कैसे कह सकते हो!

गतिविधि

ये संवाद 175 साल से भी ज़्यादा पहले के हैं। आपने भी अपने आसपास महिलाओं के महत्त्व और क्षमताओं के बारे में तरह-तरह के तर्क सुने होंगे। उन्हें लिखें। देखें कि तब और अब की दलीलों में क्या फर्क आया है?

उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध सुधारक ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने भी विधवा विवाह के पक्ष में प्राचीन ग्रंथों का ही हवाला दिया था। अंग्रेज़ सरकार ने उनका यह सुझाव मान लिया और 1856 में विधवा विवाह के पक्ष में एक कानून पारित कर दिया। जो विधवाओं के विवाह का विरोध करते थे उन्होंने विद्यासागर का भी विरोध किया और यहाँ तक कि उनका बहिष्कार कर दिया।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक विधवा विवाह के पक्ष में चलाया जा रहा आंदोलन देश के अन्य भागों में भी फैल गया था। मद्रास प्रेज़ीडेंसी के तेलुगू भाषी इलाकों में वीरेशलिंगम पंतुलु ने विधवा विवाह के समर्थन में एक संगठन बनाया था। लगभग उसी समय बम्बई में युवा बुद्धिजीवियों और सुधारकों ने भी विधवा विवाह के प्रचार-प्रसार का संकल्प लिया। उत्तर में आर्य समाज की स्थापना करने वाले स्वामी दयानंद सरस्वती ने भी विधवा विवाह का समर्थन किया।

इसके बावजूद विवाह करने वाली विधवा महिलाओं की संख्या काफ़ी कम थी। विवाह करने वाली विधवाओं को समाज में आसानी से स्वीकार नहीं किया जाता था। इस तरह, रूढ़िवादी तबके इस नए कानून का विरोध करते रहे।

***चित्र 4** – स्वामी दयानंद सरस्वती।*

दयानंद ने 1875 में आर्य समाज की स्थापना की थी। आर्य समाज ने हिंदू धर्म को सुधारने का प्रयास किया था।

चित्र 5 – ईश्वरचंद्र विद्यासागर।

लड़कियाँ स्कूल जाने लगती हैं

बहुत सारे सुधारकों को लगता था कि महिलाओं की दशा सुधारने के लिए लड़कियों को शिक्षित करना ज़रूरी है।

कलकत्ता में विद्यासागर और बम्बई में बहुत सारे अन्य सुधारकों ने लड़कियों के लिए स्कूल खोले। उन्नीसवीं सदी के मध्य में जब इस तरह के प्रारंभिक स्कूल खुले तो बहुत सारे लोग उनसे डरते थे। लोगों को भय था कि स्कूल वाले लड़कियों को घर से निकाल ले जाएँगे और उन्हें घरेलू कामकाज नहीं करने देंगे। स्कूल जाने के लिए लड़कियों को सार्वजनिक स्थानों से गुजर कर जाना पड़ता था। बहुत सारे लोगों को लगता था कि इससे लड़कियाँ बिगड़ जाएँगी। उनकी मान्यता थी कि लड़कियों को सार्वजनिक स्थानों से दूर रहना चाहिए। फलस्वरूप, उन्नीसवीं सदी में पढ़ने-लिखने वाली ज़्यादातर महिलाओं को उनके उदार विचारों वाले पिता या पति की देखरेख में घर पर ही पढ़ाया जाता रहा। कई महिलाओं ने बिना किसी की मदद लिए खुद ही पढ़ना-लिखना सीखा। क्या आपको याद है पिछले साल की *सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन* पुस्तक में आपने राशसुंदरी देबी के बारे में क्या पढ़ा था? वे ऐसी महिलाओं में से थीं जिन्होंने रात में दीये की टिमटिमाती लौ में चोरी-छिपे ही लिखना-पढ़ना सीखा था।

उन्नीसवीं सदी के आख़िरी हिस्से में आर्य समाज द्वारा पंजाब में और ज्योतिराव फुले द्वारा महाराष्ट्र में लड़कियों के लिए स्कूल खोले गए।

उत्तर भारत के कुलीन मुसलिम परिवारों की महिलाएँ अरबी में क़ुरान शरीफ़ पढ़ना सीखने लगीं। उन्हें घर पर ही पढ़ाने के लिए शिक्षिकाएँ रखी जाती थीं। इस स्थिति को देखते हुए मुमताज़ अली जैसे कुछ सुधारकों ने क़ुरान शरीफ़ की आयतों का हवाला देकर कहा कि महिलाओं को भी शिक्षा का अधिकार मिलना चाहिए। उन्नीसवीं सदी के आख़िर से ही उर्दू में उपन्यासों का सिलसिला शुरू हुआ। इन उपन्यासों में महिलाओं को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता था कि वे धर्म और घरेलू साज-सँभाल के बारे में पढ़ें।

चित्र 6 – हिंदू महाविद्यालय की छात्राएँ, 1875.

उन्नीसवीं शताब्दी में जब लड़कियों के लिए स्कूल खोले गए तो आमतौर पर माना जाता था कि लड़कियों की पढ़ाई-लिखाई लड़कों की पढ़ाई-लिखाई से कम सख्त होनी चाहिए। हिंदू महिला विद्यालय ऐसे शुरुआती संस्थानों में से था जहाँ वही शिक्षा दी जाती थी जो उस समय लड़कों को दी जा रही थी।

महिलाओं के बारे में महिलाएँ लिखने लगीं

बीसवीं सदी की शुरुआत से ही बहुत सारी मुसलिम महिलाओं ने महिला शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए अहम भूमिका अदा की। जैसे, भोपाल की बेगमों ने अलीगढ़ में लड़कियों के लिए प्राथमिक स्कूल खोला। बेगम रुकैया सख़ावत हुसैन भी इस दौर की एक प्रभावशाली महिला थीं जिन्होंने कलकत्ता और पटना में मुसलिम लड़कियों के लिए स्कूल खोले। वह रूढ़िवादी विचारों की कटु

आलोचक थीं और उनका मानना था कि प्रत्येक धर्म के धार्मिक नेताओं ने औरतों को निचले दर्जे में रखा है।

1880 के दशक तक आते-आते भारतीय महिलाएँ विश्वविद्यालयों में प्रवेश लेने लगी थीं। उनमें से कुछ चिकित्सक और कुछ शिक्षिका बन गईं। बहुत सारी महिलाएँ लिखने लगीं और उन्होंने समाज में महिलाओं की स्थिति पर अपने आलोचनात्मक विचार प्रकाशित किए। पूना में घर पर ही रहकर शिक्षा प्राप्त करने वाली ताराबाई शिंदे ने *स्त्रीपुरुषतुलना* नाम से एक किताब प्रकाशित की जिसमें पुरुषों और महिलाओं के बीच मौजूद सामाजिक फर्कों की आलोचना की गई थी।

चित्र 7 – पंडिता रमाबाई।

संस्कृत की महान विद्वान पंडिता रमाबाई का मानना था कि हिंदू धर्म महिलाओं का दमन करता है। उन्होंने ऊँची जातियों की हिंदू महिलाओं की दुर्दशा पर एक किताब भी लिखी थी। उन्होंने पूना में एक विधवागृह की स्थापना की जहाँ ससुराल वालों के हाथों अत्याचार झेल रही महिलाओं को पनाह दी जाती थी। वहाँ महिलाओं को ऐसी चीज़ें सिखाई जाती थीं जिनके सहारे वे अपनी रोज़ी-रोटी चला सकें।

ज़ाहिर है कि इन सब बातों से रूढ़िवादी खेमे के लोग काफ़ी आग-बबूला हुए। उदाहरण के लिए, बहुत सारे हिंदू राष्ट्रवादियों को लगने लगा था कि हिंदू महिलाएँ पश्चिमी तौर-तरीके अपना रही हैं जिससे हिंदू संस्कृति भ्रष्ट होगी और पारिवारिक संस्कार नष्ट हो जाएँगे। रूढ़िवादी मुसलमान भी इन बदलावों के नतीजों को लेकर चिंतित थे।

जैसा कि आप देख सकते हैं, उन्नीसवीं सदी के आख़िर तक खुद महिलाएँ भी सुधारों के लिए बढ़-चढ़ कर प्रयास करने लगी थीं। उन्होंने किताबें लिखीं, पत्रिकाएँ निकालीं, स्कूल और प्रशिक्षण केंद्र खोले तथा महिलाओं को संगठित किया। बीसवीं सदी की शुरुआत से वे महिलाओं को मताधिकार, बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएँ और शिक्षा के अधिकार के बारे में कानून बनवाने के लिए राजनीतिक दवाब समूह बनाने लगी थीं। उनमें से कुछ महिलाओं ने 1920 के दशक के बाद विभिन्न प्रकार के राष्ट्रवादी और समाजवादी आंदोलनों में हिस्सा भी लिया।

बीसवीं शताब्दी में, जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस जैसे नेताओं ने महिलाओं के लिए और अधिक स्वतंत्रता व समानता की माँगों का समर्थन किया। राष्ट्रीय नेताओं ने आश्वासन दिया कि स्वतंत्रता मिलने पर सभी पुरुषों व महिलाओं को वोट डालने का अधिकार दे दिया जाएगा। परंतु उनका आह्वान था कि जब तक स्वतंत्रता नहीं मिल जाती तब तक महिलाओं को अंग्रेज़ी राज विरोधी संघर्ष में ही ज़ोर लगाना चाहिए।

स्रोत 2

जब औरत का पति मर जाता है...

अपनी पुस्तक *स्त्रीपुरुषतुलना* में ताराबाई शिंदे ने लिखा था :

क्या औरत को अपनी ज़िंदगी उतनी ही प्यारी नहीं होती जितनी कि तुम्हें तुम्हारी ज़िंदगी प्यारी है? ये तो कुछ ऐसी बात हो गई मानो महिलाएँ पुरुषों से बिलकुल अलग चीज़ों से बनी हों, मानो वे धूल या चट्टानों या ज़ंग लगे लोहे से बनी हों और तुम व तुम्हारी ज़िंदगी शुद्ध सोने की बनी हो। ...तुम मुझसे पूछते हो कि मेरा क्या मतलब है। मेरा मतलब यह है कि जब औरत का पति मर जाता है, ...तो उसका क्या हश्र होता है? नाई आता है और उसके लहराते बाल साफ कर देता है, सिर्फ इसलिए कि तुम्हारी आँखों को ठंडक पड़ जाए। ...उसे शादी-ब्याह, आवोभगत और उन शुभ अवसरों से बहिष्कृत कर दिया जाता है जहाँ विवाहित महिलाएँ जाती हैं। और भला इन पाबंदियों की वजह क्या है? क्योंकि उसका पति मर चुका है। वह अभागी है : दुर्भाग्य उसके माथे पर खुदा हुआ है। उसका चेहरा देखा नहीं जाता, यह अशुभ होता है।

ताराबाई शिंदे, *स्त्रीपुरुषतुलना*

बाल विवाह के विरुद्ध कानून

महिला संगठनों के विकास तथा इन मुद्दों पर हो रहे लेखन की वजह से सुधारों के पक्ष में आवाज़ और मजबूत हुई। लोग बाल विवाह जैसी स्थापित परंपराओं को चुनौती देने लगे। केन्द्रीय विधान सभा में बहुत सारे सांसद थे जिन्होंने बाल विवाह पर पाबंदी हेतु कानून बनाने के लिए संघर्ष किया। 1929 में बाल विवाह निषेध अधिनियम पारित किया गया। इस कानून के बारे में वैसी कड़वी बहसें और संघर्ष नहीं हुए जैसे पुराने सुधारवादी कानूनों के बारे में हुए थे। इस कानून के अनुसार 18 साल से कम उम्र के लड़के और 16 साल से कम उम्र की लड़की की शादी नहीं की जा सकती। बाद में, यह उम्र बढ़ाकर क्रमशः 21 साल व 18 साल कर दी गई।

चित्र 8 *– आठ साल की दुल्हन।*

यह बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में एक बाल वधू का चित्र है। क्या आपको पता है कि आज भी हमारे देश में 20 प्रतिशत से ज़्यादा लड़कियों की शादी 18 साल से पहले ही हो जाती है?

जाति और समाज सुधार

हमने अभी जिन समाज सुधारकों का जिक्र किया है उनमें से कई जातीय गैर–बराबरी के भी विरोधी थे। राममोहन रॉय ने जाति व्यवस्था की आलोचना करने वाले एक पुराने बौद्ध ग्रंथ का अनुवाद किया। प्रार्थना समाज भक्ति परंपरा का समर्थक था जिसमें सभी जातियों की आध्यात्मिक समानता पर ज़ोर दिया गया था। जाति उन्मूलन के लिए काम करने के लिए बम्बई में 1840 में परमहंस मंडली का गठन किया गया। इन सुधारकों और सुधार संगठनों के सदस्यों में से बहुत सारे ऊँची जातियों के लोग थे। गुप्त बैठकों में ये सुधारक भोजन और स्पर्श जैसे मामलों में जातीय कायदे–कानूनों का उल्लंघन करते थे जिससे अपने जीवन में भी जातीय पूर्वाग्रहों और बंधनों से निजात पा सकें।

कई लोग ऐसे थे जो जाति आधारित समाज व्यवस्था में होने वाले अन्याय के विरुद्ध थे। उन्नीसवीं सदी में ईसाई प्रचारक आदिवासी समुदायों और "निचली" जातियों के बच्चों के लिए स्कूल खोलने लगे थे। इस प्रकार, इन बच्चों को बदलती दुनिया में अपना रास्ता ढूँढ़ने के नए साधन मिलने लगे थे।

उसी समय बहुत सारे गरीब लोग शहरों में निकल रही नई नौकरियों की तलाश में गाँव छोड़कर भी जा रहे थे। नए कारखानों और नगरपालिकाओं में नई नौकरियाँ निकल रही थीं। अध्याय 6 में आप शहरों के विस्तार के बारे

में पढ़ चुके हैं। कल्पना कीजिए कि इससे मज़दूरी की कितनी माँग पैदा हुई होगी। शहरों में नालियाँ बनाई जानी थीं, सड़कें बिछनी थीं, इमारतों का निर्माण होना था और शहरों को साफ किया जाना था। इसके लिए कुलियों, खुदाई करने वालों, बोझा ढोने वालों, ईंट बनाने वालों, नालियाँ साफ करने वालों, सफाईकर्मियों, पालकी ढोने वालों, रिक्शा खींचने वालों की ज़रूरत थी। यह श्रम कहाँ से आया? इन कामों को सँभालने के लिए गाँवों और छोटे कस्बों के गरीब शहरों की तरफ जाने लगे जहाँ मज़दूरी की माँग पैदा हो रही थी। शहर जाने वालों में से बहुत सारे "निम्न" जातियों के लोग भी थे। कुछ लोग असम, मॉरिशस, त्रिनीदाद और इंडोनेशिया आदि स्थानों पर बागानों में काम करने भी चले गए। नए स्थानों पर काम अकसर बहुत कठोर था। परंतु गरीबों, निचली जातियों के लोगों को यह गाँवों में सवर्ण ज़मींदारों द्वारा उनके जीवन पर दमनकारी कब्ज़े और दैनिक अपमान से छूट निकलने का एक मौका था।

चित्र 9 *– एक कुली जहाज़, उन्नीसवीं शताब्दी।*

जॉन एलेन नामक इस कुली जहाज़ के द्वारा भारतीय मजदूरों को मॉरिशस ले जाया जाता था जहाँ उन्हें तरह-तरह के कठोर काम करने पड़ते थे। इनमें से ज़्यादातर मज़दूर निचली जातियों के होते थे।

जूते कौन बना सकता है?

चमड़े का काम करने वालों को परंपरागत रूप से नीची नज़र से देखा जाता है क्योंकि वे मृत पशुओं का चमड़ा निकालते हैं जिन्हें गंदा व दूषित माना जाता है। पहले विश्व युद्ध के दौरान सेना के लिए जूतों की जबरदस्त माँग पैदा हो गई थी। परंतु चमड़े के कामों के प्रति जातीय पूर्वाग्रहों की वजह से केवल परंपरागत चमड़ा कामगार और मोची ही जूते तैयार कर सकते थे। लिहाज़ा, वे ज़्यादा कीमत की माँग करने लगे और उन्हें काफ़ी लाभ हुआ।

चित्र 10 *– जूते बनाते मदिगा समुदाय के लोग, उन्नीसवीं शताब्दी, आंध्र प्रदेश।*

मौजूदा आंध्र प्रदेश में मदिगा एक महत्वपूर्ण "अछूत" जाति रही है। वे पशुओं के शवों को साफ करने, चमड़ा तैयार करने और चप्पल-जूतियाँ सींने में माहिर थे।

इसके अलावा दूसरी तरह की नौकरियाँ भी सामने आ रही थीं। उदाहरण के लिए सेना में भी लोगों की ज़रूरत बढ़ गई थी। अछूत माने जाने वाले महार समुदाय के बहुत सारे लोगों को महार रेजीमेंट में नौकरी मिल गई। दलित आंदोलन के नेता बी.आर. अम्बेडकर के पिता एक सैनिक स्कूल में ही पढ़ाते थे।

कक्षा में जगह नहीं

बम्बई प्रेज़ीडेंसी में 1829 में भी अछूतों को सरकारी स्कूलों में घुसने नहीं दिया जाता था। जब उन्होंने इस अधिकार के लिए सख्ती से आवाज़ उठाई तो उन्हें कक्षा के बाहर बरामदे में बैठकर सबक सुनने की इजाज़त दे दी गई ताकि वे कमरे को "दूषित" न कर सकें जहाँ ऊँची जाति के लड़कों को पढ़ाया जाता था।

चित्र 11 – गुजरात के दुबला समुदाय के लोग बाज़ार के लिए आम ढोकर ले जा रहे हैं।

दुबला मज़दूर सवर्ण ज़मींदारों के पास मज़दूरी करते थे। वे उनके खेत सँभालते थे और जमींदार के घर-आँगन में तमाम छोटे-बड़े काम करते थे।

गतिविधि

1. कल्पना कीजिए कि आप स्कूल के बरामदे में बैठकर कक्षा में पढ़ाए जा रहे सबक सुन रहे हैं। तब आपके दिमाग में किस तरह के सवाल पैदा होंगे?
2. कुछ लोगों को लगता था कि अछूतों को शिक्षा से पूरी तरह वंचित रखने के मुकाबले यह स्थिति फिर भी बेहतर थी। क्या आप इस राय से सहमत हैं?

समानता और न्याय की माँग

उन्नीसवीं सदी के दूसरे हिस्से तक गैर-ब्राह्मण जातियों के भीतर से भी लोग जातीय भेदभाव के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने लगे थे। उन्होंने सामाजिक समानता और न्याय की माँग करते हुए आंदोलन शुरू कर दिए थे।

मध्य भारत में सतनामी आंदोलन की शुरुआत घासीदास ने की, जिन्होंने चमड़े का काम करने वालों को संगठित किया और उनकी सामाजिक स्थिति में सुधार के लिए आंदोलन छेड़ दिया। पूर्वी बंगाल में हरिदास ठाकुर के मतुआ पंथ ने चांडाल काश्तकारों के बीच काम किया। हरिदास ने जाति व्यवस्था को सही ठहराने वाले ब्राह्मणवादी ग्रंथों पर सवाल उठाया। जिसे आज केरल कहा जाता है, वहाँ ऐझावा जाति के श्री नारायण गुरु ने अपने लोगों के बीच एकता का आदर्श रखा। उन्होंने जातिगत भिन्नता के आधार पर लोगों के बीच भेदभाव करने का विरोध किया। उनके अनुसार सारी मानवता की एक ही जाति है। उनका एक महत्वपूर्ण कथन था– 'ओरु जाति, ओरु मतम्, ओरु दैवम मनुष्यानु' (मानवता की एक जाति, एक धर्म, एक ईश्वर)।
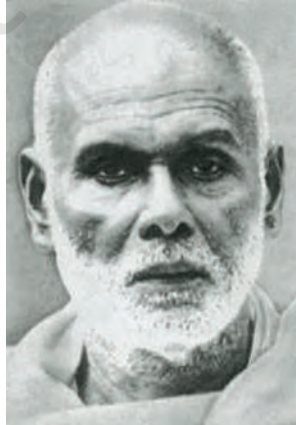
चित्र 12 – श्री नारायण गुरु

इन सभी पंथों की स्थापना ऐसे लोगों ने की थी जो गैर-ब्राह्मण जातियों से थे और उनके बीच ही काम करते थे। उन्होंने उन आदतों और तौर-तरीकों को बदलने का प्रयास किया जो प्रभुत्वशाली जातियों का अपमान करने के लिए उकसाती थीं। उन्होंने अधीनस्थ जातियों में स्वाभिमान का भाव पैदा करने का प्रयास किया।

गुलामगीरी

"निम्न जाति" नेताओं में ज्योतिराव फुले सबसे मुखर नेताओं में से थे। 1827 में जन्मे ज्योतिराव फुले ने ईसाई प्रचारकों द्वारा खोले गए स्कूलों में शिक्षा पाई थी। बड़े होने पर उन्होंने जाति आधारित समाज में फैले अन्याय के बारे में अपने विचार व्यक्त किए। उन्होंने ब्राह्मणों के इस दावे पर खुलकर हमला बोला कि आर्य होने के कारण वे औरों से श्रेष्ठ हैं। फुले का तर्क था कि आर्य विदेशी थे, जो उपमहाद्वीप के बाहर से आए थे और उन्होंने इस मिट्टी के असली वारिसों – आर्यों के आने से पहले यहाँ रह रहे मूल निवासियों – को हराकर उन्हें गुलाम बना लिया था। जब आर्यों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया तो वे पराजित जनता को नीच, निम्न जाति वाला मानने लगे। फुले के अनुसार, "ऊँची" जातियों का उनकी ज़मीन और सत्ता पर कोई अधिकार नहीं है : यह धरती यहाँ के देशी लोगों की, कथित निम्न जाति के लोगों की है।

चित्र 13 – *ज्योतिराव फुले।*

फुले ने दावा किया कि आर्यों के शासन से पहले यहाँ स्वर्ण युग था। तब योद्धा–किसान ज़मीन जोतते थे और मराठा देहात पर न्यायसंगत और निष्पक्ष तरीके से शासन करते थे। उन्होंने सुझाव दिया कि शूद्रों (श्रमिक जातियाँ) और अतिशूद्रों (अछूत) को जातीय भेदभाव खत्म करने के लिए संगठित होना चाहिए। फुले द्वारा स्थापित किए गए सत्यशोधक समाज नामक संगठन ने जातीय समानता के समर्थन में मुहिम चलाई।

स्रोत 3

"मैं यहाँ और तुम वहाँ"

फुले उच्च जाति नेताओं के उपनिवेशवाद–विरोधी राष्ट्रवाद के भी आलोचक थे। उन्होंने लिखा था :

> ब्राह्मणों ने अपने धर्म की वह तलवार छिपा ली है जिसने लोगों की संपन्नता का गला काट दिया है और अब वे देश के महान देशभक्त बने घूम रहे हैं। वे... हमारे शूद्र, मुसलिम और पारसी नौजवानों को... ये सलाह देते हैं... कि अगर हम ऊँच–नीच के बारे में अपना सारा लड़ाई–झगड़ा बंद करके एकजुट नहीं होंगे तो हमारा... देश कभी उन्नति नहीं कर पाएगा...। यह एकता उन्हीं के फायदे में है क्योंकि इसके बाद दोबारा यही स्थिति पैदा हो जाएगी – मैं यहाँ और तुम वहाँ।

ज्योतिराव फुले, काश्तकार की चाबुक (शेतकऱ्याचा आसूड़)

गतिविधि

स्रोत 3 को ध्यान से पढ़ें। "मैं यहाँ और तुम वहाँ" से ज्योतिराव फुले का क्या आशय था?

1873 में फुले ने *गुलामगीरी* (गुलामी) नामक एक किताब लिखी। इससे लगभग दस साल पहले अमेरिकी गृह युद्ध हो चुका था जिसके फलस्वरूप अमरीका में दास प्रथा खत्म कर दी गई थी। फुले ने अपनी पुस्तक उन सभी अमरीकियों को समर्पित की जिन्होंने गुलामों को मुक्ति दिलाने के लिए संघर्ष

स्रोत 4

"हम भी इनसान हैं"

1927 में अम्बेडकर ने कहा था :

अब हम सिर्फ ये साबित करने के लिए तालाब पर जाना चाहते हैं कि औरों की तरह हम भी इनसान हैं...। हिंदू समाज का दो मुख्य सिद्धांतों – समानता और जातिवाद की समाप्ति – पर पुनर्गठन किया जाना चाहिए।

चित्र 14 – मदुरै मंदिर का प्रवेशद्वार, टॉमस डेनियल द्वारा बनाया गया चित्र, 1792.

मंदिर प्रवेश आंदोलन से पहले "अछूतों" को इस तरह के प्रवेशद्वारों के आस-पास भी फटकने नहीं दिया जाता था।
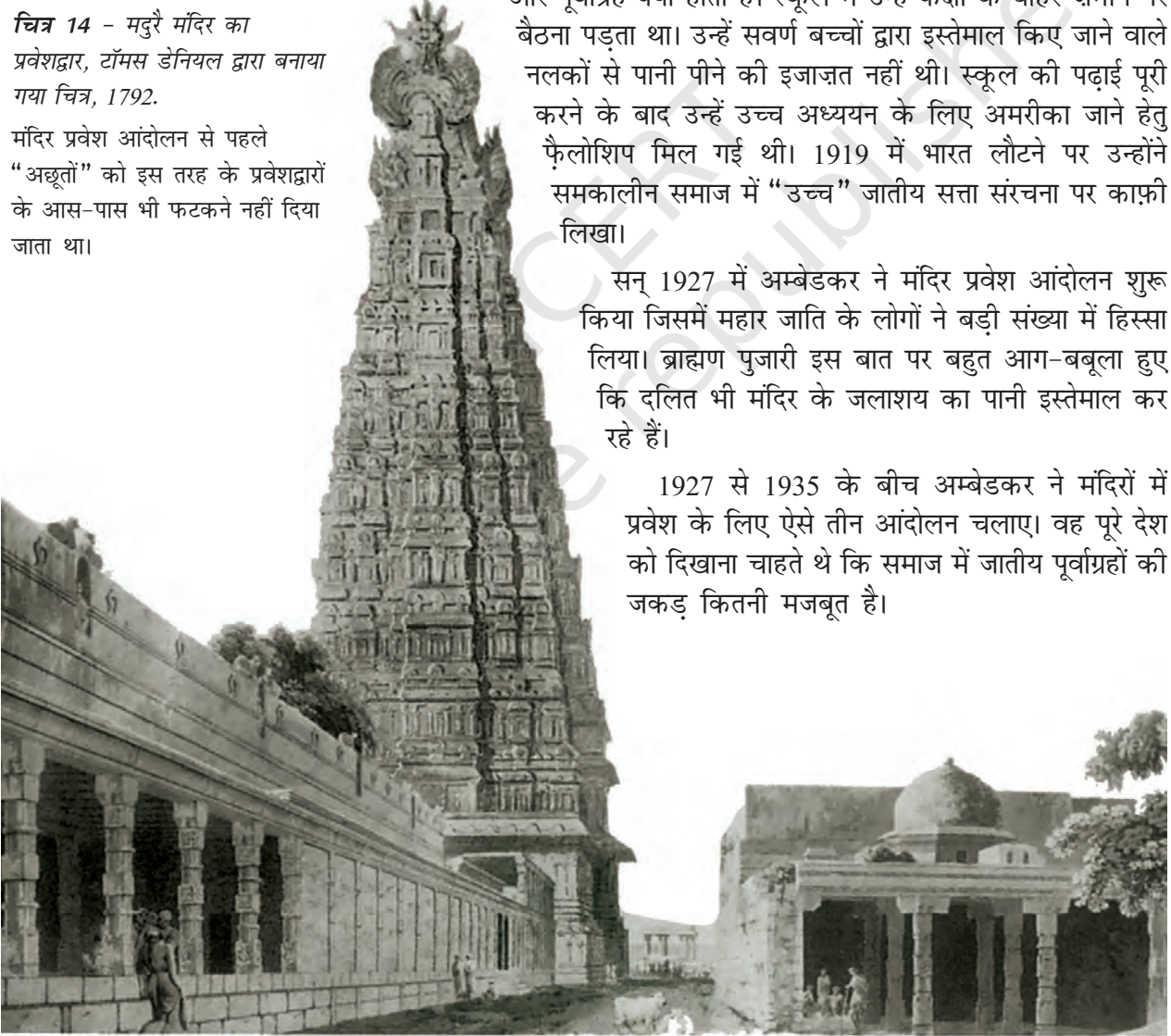
किया था। इस तरह उन्होंने भारत की "निम्न" जातियों और अमरीका के काले गुलामों की दुर्दशा को एक-दूसरे से जोड़ दिया।

जैसा कि इस उदाहरण से पता चलता है, फुले ने जाति व्यवस्था की अपनी आलोचना को सभी प्रकार की गैर-बराबरी से जोड़ दिया था। वह "उच्च" जाति महिलाओं की दुर्दशा, मज़दूरों की मुसीबतों और "निम्न" जातियों के अपमानपूर्ण हालात के बारे में गहरे तौर पर चिंतित थे। जाति सुधार का यह आंदोलन बीसवीं सदी में भी पश्चिम भारत में डॉ. बी.आर. अम्बेडकर और दक्षिण में ई.वी. रामास्वामी नायकर जैसे महान दलित नेताओं के नेतृत्व में चलता रहा।

मंदिरों में कौन जा सकता था?

अम्बेडकर एक महार परिवार में पैदा हुए थे। बचपन में उन्होंने इस बात को बहुत नज़दीक से देखा था कि रोज़ाना की ज़िंदगी में जातीय भेदभाव और पूर्वाग्रह क्या होता है। स्कूल में उन्हें कक्षा के बाहर ज़मीन पर बैठना पड़ता था। उन्हें सवर्ण बच्चों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले नलकों से पानी पीने की इजाज़त नहीं थी। स्कूल की पढ़ाई पूरी करने के बाद उन्हें उच्च अध्ययन के लिए अमरीका जाने हेतु फ़ैलोशिप मिल गई थी। 1919 में भारत लौटने पर उन्होंने समकालीन समाज में "उच्च" जातीय सत्ता संरचना पर काफ़ी लिखा।

सन् 1927 में अम्बेडकर ने मंदिर प्रवेश आंदोलन शुरू किया जिसमें महार जाति के लोगों ने बड़ी संख्या में हिस्सा लिया। ब्राह्मण पुजारी इस बात पर बहुत आग-बबूला हुए कि दलित भी मंदिर के जलाशय का पानी इस्तेमाल कर रहे हैं।

1927 से 1935 के बीच अम्बेडकर ने मंदिरों में प्रवेश के लिए ऐसे तीन आंदोलन चलाए। वह पूरे देश को दिखाना चाहते थे कि समाज में जातीय पूर्वाग्रहों की जकड़ कितनी मजबूत है।

गैर-ब्राह्मण आंदोलन

बीसवीं सदी के आरंभ में गैर-ब्राह्मण आंदोलन शुरू हुआ। यह प्रयास उन गैर-ब्राह्मण जातियों का था जिन्हें शिक्षा, धन और प्रभाव हासिल हो चुका था। उनका तर्क था कि ब्राह्मण तो उत्तर से आए उन आर्य आक्रमणकारियों के वंशज हैं जिन्होंने यहाँ के मूल निवासियों – देशी द्रविड़ नस्लों – को हराकर दक्षिणी भूभाग पर विजय हासिल की थी। उन्होंने सत्ता पर ब्राह्मणवादी दावे को भी चुनौती दी।

पेरियार के नाम से प्रसिद्ध ई.वी. रामास्वामी नायकर एक मध्यवर्गीय परिवार में पले-बढ़े थे। अपने प्रारंभिक जीवन में वे संन्यासी थे और उन्होंने संस्कृत शास्त्रों का गंभीरता से अध्ययन किया था। बाद में वे कांग्रेस के सदस्य बने परंतु जब उन्होंने राष्ट्रवादियों द्वारा आयोजित की गई एक दावत में देखा कि वहाँ बैठने के लिए जातियों के हिसाब से अलग-अलग इंतज़ाम किया हुआ है तो उन्होंने हताश होकर पार्टी छोड़ दी। इस दावत में निम्न जातियों और उच्च जातियों के लिए अलग-अलग बैठने का इंतजाम किया गया था। पेरियार की समझ में आ चुका था कि "अछूतों" को अपने स्वाभिमान के लिए खुद लड़ना होगा। इसी बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने स्वाभिमान आंदोलन शुरू किया। उनका कहना था कि मूल तमिल और द्रविड़ संस्कृति के असली वाहक अछूत ही हैं जिन्हें ब्राह्मणों ने अपने अधीन कर लिया है। उनका मानना था कि सभी धार्मिक नेता और मुखिया सामाजिक विभाजनों और असमानता को ईश्वरप्रदत्त मानते हैं इसलिए सामाजिक समानता के लिए सभी धर्मों से अछूतों को खुद मुक्ति पानी होगी।

पेरियार हिंदू वेद पुराणों के कट्टर आलोचक थे। खासतौर से मनु द्वारा रचित संहिता, *भगवदगीता* और *रामायण* के वे कटु आलोचक थे। उनका कहना था कि ब्राह्मणों ने निचली जातियों पर अपनी सत्ता तथा महिलाओं पर पुरुषों का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए इन पुस्तकों का सहारा लिया है।

ये दलीलें लोगों को सहज रास नहीं आईं। निम्न जातीय नेताओं के भाषणों, विचारपूर्ण लेखन और आंदोलनों से उच्च जातीय राष्ट्रवादी नेताओं के बीच कुछ आत्ममंथन और आत्मालोचना की प्रक्रिया शुरू हुई। परंतु, रूढ़िवादी हिंदू समाज ने भी उत्तर में सनातन धर्म सभाओं तथा भारत धर्म महामंडल और बंगाल में ब्राह्मण सभा जैसे संगठनों के ज़रिए इन रुझानों का सख्ती से विरोध किया। इन संगठनों का मकसद यही था कि हिंदू धर्म में जातीय ऊँच-नीच को जो महत्व दिया जाता है उस पर कोई आँच न आए। वे साबित करना चाहते थे कि इस बात को धार्मिक ग्रंथों में भी मान्यता मिली हुई है। औपनिवेशिक काल के बाद भी जाति के सवाल पर बहस और संघर्ष चलते रहे और ये आज भी जारी हैं।

चित्र 15 – ई.वी. रामास्वामी नायकर (पेरियार)।

स्रोत 5

महिलाओं के बारे में पेरियार

पेरियार ने लिखा था :

तारा मुकुर्तम जैसे शब्दों के आगमन के बाद हमारी महिलाएँ अपने पतियों के हाथों की कठपुतली बन गई थीं...। हमें ऐसे पिताओं के संरक्षण में जीना पड़ा जो अपनी बेटियों को सलाह देते हैं... कि उन्हें पतियों को उपहार में दिया जा चुका है और अब वे अपने पति के घर का हिस्सा हैं। यह... संस्कृत के साथ हमारी घनिष्ठता का परिणाम है।

पेरियार द्वारा रचित
पेरियार चिंतानाइकल *से उद्धृत*

गतिविधि

आज भी जाति इतना विवादास्पद मुद्दा क्यों बनी हुई है? औपनिवेशिक काल में जाति के विरुद्ध सबसे महत्वपूर्ण आंदोलन कौन सा था?

सुधारों के लिए संगठित होना

चित्र 16 – केशब चंद्र सेन ब्रह्मो समाज के मुख्य नेताओं में से एक थे।

ब्रह्मो समाज

ब्रह्मो समाज की स्थापना 1830 में की गई थी। यह संस्था सभी प्रकार की मूर्ति पूजा और बलि के विरुद्ध थी और इसके अनुयायी उपनिषदों में विश्वास रखते थे। इसके सदस्यों को अन्य धार्मिक प्रथाओं या परंपराओं की आलोचना करने का अधिकार नहीं था। ब्रह्मो समाज ने विभिन्न धर्मों के आदर्शों – खास तौर से हिंदुत्व और ईसाई धर्म – के विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या करते हुए उनके नकारात्मक और सकारात्मक पहलुओं पर प्रकाश डाला।

डेरोज़ियो एवं यंग बंगाल

1820 के दशक में हेनरी लुई विवियन डेरोज़ियो हिंदू कॉलेज, कलकत्ता में अध्यापक थे। उन्होंने अपने विद्यार्थियों को आमूल परिवर्तनकारी विचारों से अवगत कराया और उन्हें तमाम तरह की सत्ता पर सवाल खड़ा करने के लिए प्रोत्साहित किया। उनके द्वारा शुरू की गई यंग बंगाल मूवमेंट में उनके विद्यार्थियों ने परंपराओं और रीति-रिवाज़ों पर उँगली उठाई, महिलाओं के लिए शिक्षा की माँग की और सोच व अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए अभियान चलाया।

चित्र 17 – हेनरी डेरोज़ियो।

रामकृष्ण मिशन और विवेकानंद

चित्र 18 – स्वामी विवेकानंद।

रामकृष्ण मिशन का नाम स्वामी विवेकानंद के गुरु रामकृष्ण परमहंस के नाम पर रखा गया था। यह मिशन समाज सेवा और निस्वार्थ श्रम के ज़रिए मुक्ति के लक्ष्य पर ज़ोर देता था

स्वामी विवेकानंद (1863-1902) जिनका मूल नाम नरेंद्रनाथ दत्त था, उन्होंने श्री रामकृष्ण की सरल शिक्षाओं को अपने प्रतिभाशाली संतुलित आधुनिक विचारधारा से जोड़ कर संपूर्ण विश्व में प्रसारित किया। 1893 में शिकागो में विश्व धर्म संसद में उन्हें सुनने के बाद न्यूयॉर्क हेराल्ड ने विवरण दिया कि, "ऐसे विद्वान राष्ट्र में धर्म प्रचारकों को भेजना कितना मूर्खतापूर्ण है"। वास्तव में, स्वामी विवेकानंद आधुनिक समय के पहले भारतीय थे जिन्होंने विश्वव्यापी स्तर पर वेदांत दर्शन के आध्यात्मिक गौरव को पुनर्स्थापित किया, लेकिन उनका उद्देश्य केवल धर्म की व्याख्या करना नहीं था। अपने देशवासियों की निर्धनता और दुर्दशा से उन्हें अतिशय दु:ख हुआ। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि कोई भी सुधार तभी सफल हो सकता है जब जनसमूह की दशा उन्नत हो। अत: भारत के लोगों को उन्होंने 'रसोईघर के धर्म' की संकीर्ण चारदीवारी से बाहर निकलने और राष्ट्र की सेवा में एक जुट होने का आह्वान किया। इस आह्वान द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद की प्रारंभिक अवस्था में उन्होंने असाधारण योगदान दिया। किंतु राष्ट्रवाद के बारे में उनका भाव संकीर्ण नहीं था। उन्हें यह विश्वास था कि मानवजाति को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है उन पर तभी काबू पाया जा सकता है जब विश्व के सभी राष्ट्र एक समान धरातल पर एक साथ आएँ। अत: एक सामान्य आध्यात्मिक विरासत के आधार पर उन्होंने युवाओं को एक होने का उपदेश दिया। इस उद्बोधन में वह वास्तव में 'नई विचारधारा के प्रतीक और भविष्य के लिए एक महान शक्ति का स्त्रोत' बन गए।

प्रार्थना समाज

1867 में बम्बई में स्थापित प्रार्थना समाज ने जातीय बंधनों को खत्म करने और बाल विवाह के उन्मूलन के लिए प्रयास किया। प्रार्थना समाज ने महिलाओं की शिक्षा को प्रोत्साहित किया और विधवा विवाह पर लगी पाबंदी के खिलाफ आवाज़ उठाई। उसकी धार्मिक बैठकों में हिंदू, बौद्ध और ईसाई ग्रंथों पर विचार-विमर्श किया जाता था।

वेद समाज

मद्रास (चेन्नई) में 1864 में वेद समाज की स्थापना हुई। वेद समाज ब्रह्मो समाज से प्रेरित था। वेद समाज ने जातीय भेदभाव को समाप्त करने और विधवा विवाह तथा महिला शिक्षा को प्रोत्साहित करने के लिए काम किया। इसके सदस्य एक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखते थे। उन्होंने रूढ़िवादी हिंदुत्व के अंधविश्वासों और अनुष्ठानों की सख्त निंदा की।

अलीगढ़ आंदोलन

सैय्यद अहमद खाँ द्वारा 1875 में अलीगढ़ में खोले गए मोहम्मदन एंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज को ही बाद में अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय के नाम से जाना गया। यहाँ मुसलमानों को पश्चिमी विज्ञान के साथ-साथ विभिन्न विषयों की आधुनिक शिक्षा दी जाती थी। अलीगढ़ आंदोलन का शैक्षणिक सुधारों के क्षेत्र में गहरा प्रभाव रहा है।

चित्र 19 – सैय्यद अहमद खाँ।

2018-19
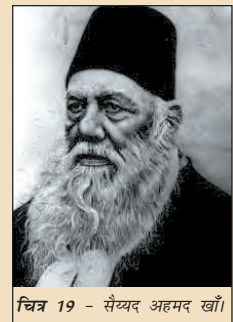
सिंह सभा आंदोलन

सिखों के सुधारवादी संगठन के रूप में सिंह सभाओं की स्थापना 1873 में अमृतसर से शुरू हुई थी। बाद में 1879 में लाहौर में भी सिंह सभा का गठन किया गया। इन सभाओं ने सिख धर्म को अंधविश्वासों, जातीय भेदभाव और ऐसे आचरण जिसे वे गैर-सिख समझती थीं, से मुक्त कराने का प्रयास किया। उन्होंने सिखों को शिक्षा के लिए प्रोत्साहित किया जिसमें अकसर आधुनिक ज्ञान के साथ-साथ सिख धर्म के सिद्धांतों को भी पढ़ाया जाता था।

चित्र 20 *– खालसा कॉलेज, अमृतसर। 1892 में सिख सभा आंदोलन के नेताओं द्वारा स्थापित किया गया।*

अन्यत्र

काले गुलाम और गोरे बागान मालिक

आप यह जान चुके हैं कि ज्योतिराव फुले ने अपनी पुस्तक *गुलामगीरी* में जातीय उत्पीड़न और अमरीका में प्रचलित दास प्रथा के बीच किस तरह संबंध स्थापित किया था। क्या आप जानते हैं कि दासता की यह प्रथा क्या थी?

सत्रहवीं शताब्दी में जब यूरोपीय खोजी यात्री और व्यापारी पहली बार अफ़्रीका पहुँचे तो उन्होंने गुलामों का व्यापार शुरू कर दिया। वे अफ़्रीका के काले लोगों को पकड़कर अमरीका ले आते थे और वहाँ के गोरे बागान मालिकों को बेच देते थे। उन्हें कपास और अन्य बागानों में काम करना पड़ता था जो ज़्यादातर दक्षिणी संयुक्त राज्य अमरीका में स्थित थे। बागानों में ये गुलाम पौ फटने से लेकर देर रात तक काम करते थे। "सही ढंग से काम न करने" के नाम पर मालिक उन्हें सजा देते थे, कोड़ों से पीटते थे और तरह-तरह की यातनाएँ देते थे।

चित्र 21 *– गुलामों की बिक्री, दक्षिणी केरोलिना, अमरीका, 1856*

यहाँ संभावित खरीददार नीलामी में अफ़्रीका से लाए गए गुलामों की जाँच-पड़ताल कर रहे हैं।

श्वेत और अश्वेत, सभी तरह के बहुत सारे लोगों ने संगठित रूप से इस दास प्रथा का विरोध किया। इसी क्रम में उन्होंने 1776 की अमेरिकी क्रांति की भावनाओं का हवाला देते हुए आह्वान किया : "अमरीकावासियो, अपने घोषणापत्र को देखो! क्या तुम्हें अपनी भाषा भी समझ में नहीं आती?" गेटिसबर्ग में दिए गए अपने अत्यंत भावप्रवण भाषण में अब्राहम लिंकन ने कहा था कि जिन्होंने दास प्रथा के खिलाफ संघर्ष किया है वे लोकतंत्र के पथप्रदर्शक हैं। उन्होंने लोगों से आह्वान किया कि वे नस्ली समानता के लिए कदम उठाएँ ताकि "धरती से 'जनता की, जनता के द्वारा, जनता के लिए सरकार' का नाश न हो।"

2018-19

आइए कल्पना करें

मान लीजिए कि आप रुकैया हुसैन द्वारा स्थापित किए गए एक स्कूल में पढ़ाते हैं। आपकी कक्षा में 20 लड़कियाँ हैं। अपनी कल्पना के आधार पर इस स्कूल में किसी एक दिन हुई चर्चाओं का एक विवरण लिखिए।

फिर से याद करें

1. निम्नलिखित लोगों ने किन सामाजिक विचारों का समर्थन और प्रसार किया :
   राममोहन रॉय
   दयानंद सरस्वती
   वीरेशलिंगम पंतुलु
   ज्योतिराव फुले
   पंडिता रमाबाई
   पेरियार
   मुमताज़ अली
   ईश्वरचंद्र विद्यासागर
2. निम्नलिखित में से सही या गलत बताएँ :
   (क) जब अंग्रेज़ों ने बंगाल पर क़ब्ज़ा किया तो उन्होंने विवाह, गोद लेने, संपत्ति उत्तराधिकार आदि के बारे में नए कानून बना दिए।
   (ख) समाज सुधारकों को सामाजिक तौर-तरीकों में सुधार के लिए प्राचीन ग्रंथों से दूर रहना पड़ता था।
   (ग) सुधारकों को देश के सभी लोगों का पूरा समर्थन मिलता था।
   (घ) बाल विवाह निषेध अधिनियम 1829 में पारित किया गया था।

आइए विचार करें

3. प्राचीन ग्रंथों के ज्ञान से सुधारकों को नए कानून बनवाने में किस तरह मदद मिली?
4. लड़कियों को स्कूल न भेजने के पीछे लोगों के पास कौन-कौन से कारण होते थे?
5. ईसाई प्रचारकों की बहुत सारे लोग क्यों आलोचना करते थे? क्या कुछ लोगों ने उनका समर्थन भी किया होगा? यदि हाँ तो किस कारण?
6. अंग्रेज़ों के काल में ऐसे लोगों के लिए कौन से नए अवसर पैदा हुए जो "निम्न" मानी जाने वाली जातियों से संबंधित थे?
7. ज्योतिराव और अन्य सुधारकों ने समाज में जातीय असमानताओं की आलोचनाओं को किस तरह सही ठहराया?
8. फुले ने अपनी पुस्तक *गुलामगीरी* को गुलामों की आजादी के लिए चल रहे अमेरिकी आंदोलन को समर्पित क्यों किया?
9. मंदिर प्रवेश आंदोलन के ज़रिए अम्बेडकर क्या हासिल करना चाहते थे?
10. ज्योतिराव फुले और रामास्वामी नायकर राष्ट्रीय आंदोलन की आलोचना क्यों करते थे? क्या उनकी आलोचना से राष्ट्रीय संघर्ष में किसी तरह की मदद मिली?

10 दृश्य कलाओं की बदलती दुनिया

चित्र 1 – दमयंती, राजा रवि वर्मा द्वारा बनाया गया चित्र।

जब आप किसी कलाकृति – किसी पेंटिंग, मूर्तिशिल्प आदि – को देखते हैं तो संभवत: यह बात साफ दिखाई नहीं देती कि ज़्यादातर दूसरी चीज़ों की तरह कला भी अपने चारों तरफ की दुनिया से प्रभावित होती है। और संभवत: आपको ये भी नहीं लगेगा कि आप जो देखते हैं वही आपके विचारों को भी प्रभावित करता है। इस अध्याय में हम देखेंगे कि औपनिवेशिक काल के दौरान दृश्य कलाओं की दुनिया में क्या बदलाव आए और ये बदलाव उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद के व्यापक इतिहास से किस तरह जुड़े हुए हैं।

औपनिवेशिक शासन में कई तरह के नए कला रूपों, शैलियों, सामग्री और तकनीकों का सूत्रपात हुआ। इन्हें भारतीय कलाकारों ने संभ्रान्त और जनसाधारण, दोनों हल्कों के अपने स्थानीय ग्राहकों और बाज़ार के हिसाब से अपनाकर नई शक्ल दी। आप पाएँगे कि जिन दृश्य कलाओं को आप आज सहज स्वाभाविक मान लेते हैं उनमें से बहुत सारी कलाओं का जन्म उसी काल में हुआ था जिसका हम इस अध्याय में अध्ययन करने वाले हैं। उदाहरण के लिए, बुर्जियों, मीनारों, और महराबों वाली भव्य सार्वजनिक इमारतें; कोई मनोहारी भूदृश्य, किसी तसवीर में यथार्थपरक मानव छवि या किसी देवी-देवता की तसवीर; मशीनों द्वारा असंख्य मात्रा में छापी गई तसवीरें आदि इसी तरह के उदाहरण हैं।

इस इतिहास को समझने के लिए हम मुख्य रूप से पेंटिंग और छापे बनाने से संबंधित तकनीक में आए बदलावों पर विचार करेंगे।

साम्राज्यवादी युग की कलाओं के नए रूप

अठारहवीं सदी से यूरोप के बहुत सारे कलाकार अंग्रेज़ व्यापारियों और शासकों के साथ भारत आने लगे थे। ये कलाकार चित्रकारी की नई शैलियाँ और नई परंपराएँ भी अपने साथ लाए थे। उन्होंने इस तरह की तसवीरें बनाईं जो यूरोप में बेहद लोकप्रिय हुईं और जिन्होंने पश्चिम में भारत की छवि गढ़ने में अहम भूमिका अदा की।

यूरोपीय कलाकार अपने साथ यथार्थवाद का विचार लेकर आए थे। यह विचार इस मान्यता पर आधारित था कि कलाकारों को अपनी आँखों से चीज़ों को गौर से देखना चाहिए और उन्हें यथावत चित्रित करना चाहिए यानी, कलाकार जो बनाएँगे वह असली और जीवंत दिखना चाहिए। यूरोपीय कलाकार तैल चित्रों की तकनीक भी अपने साथ लाए थे। इससे पहले तक भारतीय कलाकार इस तकनीक से बहुत परिचित नहीं थे। तैल चित्रों से यहाँ के कलाकारों को असली जैसी तसवीरें बनाने में काफ़ी मदद मिली।

भारत आने वाले सभी यूरोपीय कलाकार एक जैसी चीज़ों से प्रभावित नहीं थे। उन्होंने जिन विषयों पर तसवीरें बनाईं वे भी अलग-अलग थीं परंतु प्राय: इन तसवीरों में ब्रिटेन, उसकी संस्कृति, उसके लोगों की श्रेष्ठता पर ज़ोर दिखाई देता था। आइए साम्राज्यवादी कला के कुछ मुख्य रुझानों को देखें।

उत्कीर्ण चित्र – लकड़ी या धातु के छापे से कागज़ पर बनाई गई तसवीर।

मनोहारी दृश्यों की चाह

एक प्रचलित साम्राज्यवादी परंपरा मनोहारी भूदृश्यों को चित्रित करने की थी। यहाँ मनोहारी का क्या अर्थ है? दरअसल, इस तरह की चित्रशैली में भारत को एक ऐसे अनूठे भूप्रदेश के रूप में चित्रित किया जाता था जिसकी ब्रिटिश कलाकार सैलानियों को पड़ताल करनी थी; इसका भूदृश्य ऊबड़-खाबड़ तथा जंगली, और मानवीय हाथों से अनछुआ दिखता था। टॉमस डेनियल और उनके भतीजे विलियम डेनियल इस परंपरा के सबसे प्रसिद्ध चित्रकार रहे हैं। वे 1785 में भारत आए और कलकत्ता से उत्तरी और दक्षिणी भारत की यात्रा करते हुए 7 साल तक यहाँ रहे। उन्होंने भारत में ब्रिटेन के नवविजित प्रदेशों की कुछ बेहद आकर्षक तसवीरें बनाई हैं। केनवस पर बने उनके विशाल तैल चित्रों को ब्रिटेन में चुनिंदा लोगों के बीच प्रदर्शित किया जाता था। उनके **उत्कीर्ण चित्रों** की एलबम ब्रिटेन के लोग बड़े चाव से खरीदते थे क्योंकि वे ब्रिटिश साम्राज्य के बारे में जानना चाहते थे।

चित्र 2 – गाज़ीपुर में गंगा किनारे स्थित खंडहर, टॉमस डेनियल द्वारा बनाया गया चित्र (तैल, 1791)।

चित्र 2 डेनियल बंधुओं द्वारा बनाए गए नयनाभिराम चित्रों का एक बढ़िया उदाहरण है। इनमें एक ज़माने की भव्य इमारतों के खंडहर दिखाई दे रहे हैं। ये इमारतें अतीत के वैभव की याद दिलाती हैं। ये एक ऐसी प्राचीन सभ्यता के अवशेष हैं जो अब नष्ट हो चुकी है। चित्र को देखकर ऐसा लगता है मानो यह पतनशील सभ्यता केवल ब्रिटिश शासन के ज़रिए ही परिवर्तन और आधुनिकता की राह पर बढ़ सकती है।

चित्र 3 – कलकत्ता स्थित क्लाइव स्ट्रीट, टॉमस एवं विलियम डेनियल द्वारा बनाया गया चित्र, 1786

ब्रिटिश शासन के तहत भारत में आधुनिक सभ्यता की स्थापना का यह विचार डेनियल बंधुओं द्वारा बनाई गई अठारहवीं सदी के आखिरी दिनों के कलकत्ता की असंख्य तसवीरों में बड़े शक्तिशाली ढंग से सामने आता है। इन तसवीरों में आप एक नया कलकत्ता बनते हुए देख सकते हैं जिसमें चौड़े रास्ते, विशाल यूरोपीय शैली की इमारतें और यातायात के नए साधन दिखाई दे रहे हैं (चित्र 3)। इसमें सड़कों पर जीवन और गहमागहमी है, इसमें नाटकीयता और उत्तेजना है। चित्र 2 और 3 को ग़ौर से देखिए। इनमें आप देख सकते हैं कि डेनियल बंधुओं ने परंपरागत भारत और ब्रिटिश शासन के अंतर्गत जीवन के बीच कितना भारी फर्क दिखाया है। चित्र 2 में भारत के परंपरागत जीवन को पूर्व-आधुनिक, परिवर्तनहीन और गतिहीन दिखाया गया है। उसमें फ़क़ीर, गाय और नदी में चलती नौकाएँ दिख रही हैं। इसके विपरीत चित्र 3 में ब्रिटिश शासन के तहत आधुनिकीकरण की छवि दिखाई देती है। इसमें तेज़ी से होने वाले बदलावों पर जोर है।

प्राधिकार का चित्रण

औपनिवेशिक भारत में बेहद लोकप्रिय होने वाली एक और कला शैली रूपचित्रकारी थी। ब्रिटिश और भारतीय, दोनों देशों के अमीर और ताकतवर लोग किरमिच पर अपनी छवि देखना चाहते थे। छोटे आकार के **रूपचित्र** बनाने की मौजूदा भारतीय परंपरा के विपरीत औपनिवेशिक रूपचित्र आदमकद आकार के होते थे और बिलकुल सच्चे लगते थे। **रूप-चित्रण** की यह नई शैली इस साम्राज्य की वजह से पैदा हो रही ऐश्वर्यपूर्ण जीवनशैली, धन-संपदा और रौब-दाब को दर्शाने का भी आदर्श साधन थी।

रूपचित्र – किसी व्यक्ति का ऐसा चित्र जिसमें उसके चेहरे और हावभाव पर ज्यादा जोर दिया गया हो।

रूप-चित्रण – पोर्ट्रेट बनाने की कला।

जैसे-जैसे रूपचित्रकारी लोकप्रिय होती गई, बहुत सारे यूरोपियन रूपचित्रकार लाभदायक काम की तलाश में भारत आने लगे। योहान ज़ोफ़नी यूरोप से आने वाले सबसे प्रसिद्ध चित्रकारों में से थे। उनका जन्म जर्मनी में हुआ था और वे बाद में इंग्लैंड जाकर बस गए थे। 1780 के दशक के मध्य में वे 5 साल के लिए भारत आए थे। चित्र 4 और 5 ज़ोफ़नी द्वारा बनाए गए रूपचित्र के दो उदाहरण हैं। इनमें आप भारतीय नौकरों और औपनिवेशिक बंगलों के लंबे-चौड़े लॉन को भी देख सकते हैं। इनमें भारतीयों को दब्बू और कमतर हैसियत में दिखाया गया है। वे अपने गोरे स्वामियों की सेवा कर रहे हैं जबकि अंग्रेज़ों को श्रेष्ठतर और मालिकों के अंदाज में दिखाया गया है। वे अपने कपड़ों का प्रदर्शन कर रहे हैं, शाही अंदाज में खड़े हैं या दंभपूर्वक बैठे हुए हैं और ऐश्वर्य भरा जीवन जीते हैं। भारतीय लोग ऐसे चित्रों के केंद्र में कभी नहीं दिखते थे। वे आमतौर पर धुँधली पृष्ठभूमि में ही दिखाई देते थे।

बहुत सारे भारतीय नवाब भी यूरोपीय चित्रकारों से विशाल तैल रूपचित्र बनवाने

चित्र 4 – गवर्नर जनरल हेस्टिंग्स और उसकी पत्नी का बेलवेडेयर एस्टेट की पृष्ठभूमि में बनाया गया पोर्ट्रेट, योहान ज़ोफ़नी द्वारा (तैल, 1784)।
पृष्ठभूमि में भव्य औपनिवेशिक महल को देखिए।

चित्र 5 – कलकत्ता के ऑरियाल एवं डैशवुड परिवारों का चित्र, योहान ज़ोफ़नी द्वारा चित्रित (तैल, 1784)।
टॉमस डैशवुड का विवाह शार्लेट लूज़िया ऑरियाल से हुआ था। इस चित्र में उन्हें अपने दोस्तों और रिश्तेदारों की ख़ातिरदारी करते हुए देख सकते हैं। इस चित्र में भारतीय नौकर-चाकर चाय पेश कर रहे हैं।

गतिविधि

चित्र 4 और 5 को देखें।

1. इनमें भारतीयों को किस तरह से कमतर स्थिति में दर्शाया गया है?
2. अंग्रेज़ों के कपड़ों पर ध्यान दीजिए। उनसे क्या पता चलता है?

लगे थे। आप देख चुके हैं कि किस तरह अंग्रेज़ों ने भारतीय दरबारों में अपने रेज़ीडेंट तैनात किए और राजाओं की ताकत को नजरअंदाज करते हुए किस तरह वे रियासतों का शासन नियंत्रित करने लगे थे। कुछ नवाबों ने इस दखलअंदाजी का विरोध किया जबकि कुछ ने अंग्रेज़ों की राजनीतिक और सांस्कृतिक श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया। वे अंग्रेज़ों के साथ मेलजोल चाहते थे और उनकी शैलियों और रुचियों को अपनाना चाहते थे। मोहम्मद अली ख़ान इसी तरह के एक नवाब थे। 1770 के दशक में अंग्रेज़ों के साथ हुए एक युद्ध के बाद वह ईस्ट इंडिया कंपनी की पेंशन पर आश्रित हो गए थे। परंतु इसके बावजूद उन्होंने टिली कैटल और जॉर्ज विलिसन नाम के दो यूरोपीय कलाकारों को अपने रूपचित्र बनाने का जिम्मा सौंपा और ये पेंटिंग्स इंग्लैंड के राजा और ईस्ट इंडिया कंपनी के निदेशकों को भेंट कीं। नवाब मोहम्मद अली अपनी राजनीतिक सत्ता गँवा चुके थे परंतु इन रूपचित्रों में वह खुद को एक शाही और रौबीले अंदाज में देख कर खुश हो सकते थे। चित्र 6 में विलिसन द्वारा बनाए गए उनके चित्र को देखिए। आप समझ सकते हैं कि नवाब किस मुद्रा में चित्र बनवा रहे हैं और अपने शाही अंदाज को उन्होंने किस तरह दर्शाया है।

चित्र 6 – ऑर्कट के नवाब मोहम्मद अली ख़ान का चित्र, जॉर्ज विलिसन द्वारा बनाया गया तैलचित्र, 1775 ।

इतिहास को चित्रित करना

साम्राज्यवादी कला की एक और श्रेणी थी जिसे "इतिहास की चित्रकारी" कहा जाता था। इस शैली के चित्रों में ब्रिटिश शाही इतिहास की विभिन्न घटनाओं को नाटकीय रूप से चित्रित किया जाता था। अठारहवीं सदी के आखिर और उन्नीसवीं सदी के शुरुआती सालों में इस तरह की चित्रकारी को भारी सम्मान की नज़र से देखा जाता था और वह काफी लोकप्रिय थी।

भारत में अंग्रेज़ों की जीत ब्रिटेन के इतिहास चित्रकारों के लिए एक उपयोगी सामग्री थी। ये चित्रकार मुसाफिरों के ब्योरों और रेखाचित्रों के आधार पर ब्रिटिश जनता को दिखाने के लिए भारत में ब्रिटिश कार्रवाइयों की सुंदर छवि तैयार करने की कोशिश करते थे। इन तसवीरों में भी अंग्रेज़ों का यशगान होता था। उनकी सत्ता, उनकी विजय और उनकी श्रेष्ठता इन चित्रों के केंद्र में थी। इन इतिहास चित्रों में से एक शुरुआती चित्र 1762 में फ्रांसिस हेमेन

चित्र 7 – प्लासी की जंग के बाद लॉर्ड क्लाइव मुर्शिदाबाद के नवाब मीर जाफ़र से मिलने आए हैं, फ़्रांसिस हेमेन द्वारा चित्रित (तैल, 1762)।

द्वारा बनाया गया था जिसे लंदन स्थित वॉक्सहॉल गार्डन में सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए रखा गया था (चित्र 7)। अंग्रेज़ों ने कुछ ही समय पहले प्लासी के युद्ध में सिराजुद्दौला को हराकर मीर जाफर को मुर्शिदाबाद का नवाब बनाया था। अंग्रेज़ों को यह जीत साज़िश से मिली थी और साज़िश में मदद देने वाले गद्दार मीर जाफर को नवाब का ओहदा तोहफे में दिया गया था। हेमेन द्वारा बनाए गए चित्र में आक्रमण और जीत के इस दृश्य को नहीं दिखाया गया है। इसमें मीर जाफर और उनके सैनिकों द्वारा प्लासी के युद्ध के बाद लॉर्ड क्लाइव की अगवानी का दृश्य दिखाया गया है।

गतिविधि

चित्र 7 और 8 को ध्यान से देखिए

1. चित्र 7 में क्लाइव को किस तरह दर्शाया गया है?
2. चित्रकार ने अंग्रेज़ों की जीत को दिखाने के लिए कौन से तरीके अपनाए हैं?
3. चित्र 7 और 8 में इंग्लैंड के झंडे (यूनियन जैक) को देखें। उसे इसी जगह पर क्यों चित्रित किया गया है?

चित्र 8 – सेरिंगापाटम पर धावा, रोबर केर पॉटर द्वारा बनाया गया चित्र (पैनोरमा तैल चित्र, 1800)।

ब्रिटिश सैनिक विजय का जश्न सेरिंगापाटम (अब श्रीरंगपटनम) के युद्ध पर आधारित बहुत सारे चित्रों में देखा जा सकता है। जैसा कि आप जानते हैं, मैसूर के टीपू सुल्तान अंग्रेज़ों के सबसे शक्तिशाली दुश्मनों में से थे। आखिरकार 1799 में सेरिंगापाटम की प्रसिद्ध लड़ाई में उनकी हार हो गई। चित्र 8 में आप देख सकते हैं कि चित्रकार ने युद्ध के दृश्य को किस तरह दिखाया है। इसमें अंग्रेज़ टुकड़ियाँ किले पर चारों तरफ से धावा बोल रही हैं, अंग्रेज़ सिपाही टीपू के सिपाहियों को टुकड़े-टुकड़े कर रहे हैं, दीवारें फाँद रहे हैं, टीपू के किले के ऊपर ब्रिटिश झंडा फहरा रहे हैं। यह चित्र ज़बरदस्त उथल-पुथल और ऊर्जा से भरपूर है। यह पेंटिंग इस घटना को नाटकीय रंग में पेश करती है और अंग्रेज़ों की जीत का गौरवगान कर रही है।

साम्राज्यवादी ऐतिहासिक चित्रों ने शाही फतह की लोकस्मृतियाँ गढ़ने का भी प्रयास किया। उनकी कोशिश थी कि भारत और ब्रिटेन, दोनों जगह अंग्रेज़ों की जीत आम जनता की स्मृति में बनी रहे। उनका मानना था कि इस तरह वे अंग्रेज़ों को अजेय और सर्वशक्तिशाली साबित कर सकते हैं।

चित्र 9 – जनरल सर डेविड बेयर्ड द्वारा सुल्तान टीपू के शव की बरामदगी, 4 मई 1799, डेविड विल्की द्वारा चित्रित (तैल, 1839)।

अंग्रेज़ फौजों का नेतृत्व करते हुए टीपू के दुर्ग पर धावा बोलने वाले जनरल बेयर्ड को इस चित्र के बीचोंबीच विजय भाव के साथ दर्शाया गया है। लालटेन से बेयर्ड पर रोशनी पड़ रही है जिससे वह सबको दिखाई दे रहा है। बाएँ कोने पर टीपू का शव पड़ा है जो नीम अँधेरे में है। टीपू की फौजें हार चुकी हैं, उनके शाही कपड़े फाड़कर फेंक दिए गए हैं। यह पेंटिंग मानो ऐलान कर रही है कि जो अंग्रेज़ों का विरोध करेंगे उनका यही हश्र होगा।

गतिविधि

चित्र 9 को देखें।
डेविड बेयर्ड की पत्नी ने डेविड विल्की को यह चित्र बनाने के लिए कमीशन किया था। उसने ऐसी तसवीरें क्यों बनवाई होंगी?
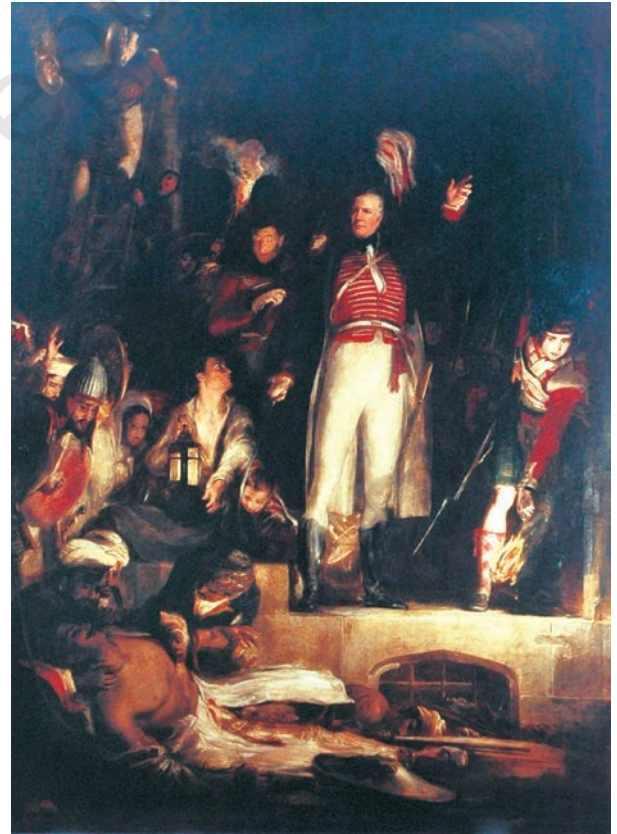
दरबारी कलाकारों का क्या हुआ?

जो कलाकार अब तक लघुचित्र बना रहे थे उनका क्या हुआ? भारतीय दरबारों में मौजूद चित्रकारों ने शाही कला की इन नई परंपराओं पर किस तरह की प्रतिक्रिया दी?

विभिन्न दरबारों में हम विभिन्न रुझान देख सकते हैं। मैसूर में टीपू सुल्तान ने न केवल जंग के मैदान में जाकर अंग्रेज़ों से लोहा लिया बल्कि उनकी सांस्कृतिक परंपराओं का भी विरोध किया। वह स्थानीय परंपराओं को प्रोत्साहन देते रहे। सेरिंगापाटम स्थित उनके महल की दीवारों पर स्थानीय कलाकारों द्वारा बनाए गए **भित्ति चित्र** लगे होते थे। चित्र 10 में इसी तरह का एक भित्ति चित्र दिखाई दे रहा है। इस तसवीर में 1780 में पोलिलुर में हुए उस प्रसिद्ध युद्ध का जश्न मनाया जा रहा है जिसमें टीपू और हैदर अली ने अंग्रेज़ फौजों को धूल चटाई थी।

भित्ति चित्र – दीवार पर बना चित्र।

चित्र 10 – टीपू सुल्तान द्वारा 1780 के पोलीलुर युद्ध में अंग्रेज़ सेना पर हैदर अली की फतह की याद में सेरिंगापाटम स्थिति दरिया दौलत महल के लिए बनवाया गया एक भित्ति चित्र।

गतिविधि

चित्र 8 और 10 की तुलना कीजिए

1. इन तसवीरों की विषयवस्तु में आपको कौन सी समानताएँ और फर्क दिखाई देते हैं?
2. अगर आप अंग्रेज़ों से लड़ते नवाब होते तो आप कलाकारों से लड़ाई के कौन से दृश्यों के चित्र बनवाते – जहाँ आप हार गए थे या जहाँ आप जीते थे? क्या आपको चित्र 10 का भित्ति चित्र यथार्थपरक दिखाई देता है?

मुर्शिदाबाद के दरबार में एक अलग रुझान देखने को मिलता है। यहाँ, सिराजुद्दौला को हराने के बाद अंग्रेज़ों ने नवाब की गद्दी पर अपनी कठपुतलियों को बिठा दिया था। पहले उन्होंने मीर जाफर को और उसके बाद मीर कासिम को नवाब बनाया। मुर्शिदाबाद रियासत में स्थानीय लघुचित्र कलाकारों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया गया कि वे अंग्रेज़ों की

अभिरुचियों और कलाशैलियों को सीखें। चित्र 11 इस बात का उदाहरण है। यह ईद के एक जुलूस की तसवीर है। अठारहवीं सदी के आखिर में एक दरबारी कलाकार द्वारा बनाई गई इस तसवीर में आप देख सकते हैं कि कैसे मुर्शिदाबाद के स्थानीय लघुचित्र कलाकार यूरोपीय यथार्थवाद के तत्वों को अपनाने लगे थे। इस चित्र में उन्होंने **परिप्रेक्ष्य विधि** का इस्तेमाल किया है जो नजदीक और दूर वाली चीज़ों के बीच दूरी का बोध देती है। चीज़ों को जीवंत और असली दिखाने के लिए उन्होंने रोशनी और परछाईं का इस्तेमाल किया है।

परिप्रेक्ष्य विधि – ऐसा तरीका जिसके ज़रिए दूर की चीज़ें छोटी दिखाई देती हैं और समानांतर रेखाएँ दूर जाकर एक–दूसरे में विलीन होती प्रतीत होती हैं।

ब्रिटिश सत्ता स्थापित हो जाने पर बहुत सारी स्थानीय रियासतों का प्रभाव और धन–संपत्ति समाप्त होती गई थी। अब ये दरबार ऐसी स्थिति में नहीं रह गए थे कि चित्रकारों का खर्चा उठा सकें और उन्हें दरबार की सेवा के बदले पैसा दे सकें। ऐसे में चित्रकार अपनी रोजी–रोटी के लिए क्या करते? उनमें से बहुत सारे अंग्रेज़ों की शरण में जाने लगे।

चित्र 11 – ईद के एक जुलूस में मुर्शिदाबाद के नवाब मुबारक़ुद्दौला, सैलानी ब्रिटिश कलाकार जी. फेरिंगटन द्वारा बनाए गये एक तैल चित्र की स्थानीय दरबारी चित्रकार द्वारा बनाई गई नकल (1799–1800)।

साथ ही भारत आए अंग्रेज़ अफसरों को ये समझ में आने लगा कि उपनिवेशों में उनका जीवन वैसा नहीं है जैसा इंग्लैंड में था। लिहाज़ा वे भी ऐसी तसवीरें बनाना चाहते थे जिनके सहारे वे भारत को समझ सकें। वे भारत में अपने जीवन की यादगार के तौर पर ऐसी चीज़ें चाहते थे जिन्हें पश्चिमी दुनिया के सामने पेश कर सकें। इस प्रकार, हम देखते हैं कि स्थानीय कलाकार स्थानीय पौधों और जानवरों की, ऐतिहासिक इमारतों और स्मारकों की, त्योहारों और जुलूसों की, व्यवसायों और दस्तकारी की, जाति और समुदायों की पेंटिंग्स बनाने लगे। ईस्ट इंडिया कंपनी के अफसर इन तसवीरों को बड़े शौक से अपने संग्रह में जोड़ लेते थे। इन चित्रों को 'कंपनी चित्रों' के नाम से जाना जाता है।

परंतु सभी कलाकार दरबारी चित्रकार नहीं थे। वे सभी नवाबों के लिए चित्र नहीं बनाते थे। आइए देखें कि दरबार के बाहर क्या चल रहा था।

चित्र 12 – इस तसवीर में ये तीनों युगल तंजौर इलाके के अलग-अलग धार्मिक समुदायों को दर्शाते हैं। तंजौर की एक कम्पनी पेंटिंग (1830)।

इस तरह की कंपनी पेंटिंग्स में लोगों को सपाट पृष्ठभूमि में दर्शाया जाता था। इन चित्रों से इस बात का अंदाजा नहीं होता कि ये लोग किस सामाजिक परिवेश में जीते या काम करते थे। ये चित्र केवल ऐसे महत्वपूर्ण पहलुओं को इंगित करते थे जिनके ज़रिए विभिन्न लोगों और समुदायों को बाहर के लोग आसानी से पहचान सकते हैं। जिस तरह कंपनी चित्रों में विभिन्न प्रकार के भारतीय पौधों, पक्षियों और पशुओं को दर्शाया जाता था उसी तरह मनुष्यों को भी विभिन्न व्यवसायों, जातियों और संप्रदायों के नमूने के रूप में ही चित्रित किया जाता था।

ख़र्रा चित्र – कागज़ के लंबे रोल पर बनाई गई पेटिंग जिसे लपेटा जा सकता था। ख़र्रा चित्र कई तरह के हो सकते हैं लेकिन इस अध्याय में हम केवल ख़र्रा पेंटिंग्स की बात कर रहे हैं।

चित्र 13 – हनुमान और जम्बुवन के बीच युद्ध, कालीघाट पेंटिंग, उन्नीसवीं सदी के मध्य में, कलकत्ता (कागज पर जलरंग)।

इसमें आप देख सकते हैं कि किस तरह कलाकारों ने परंपरागत छवियों को भी आधुनिक रूप दे दिया है। इसमें हनुमान जूते पहने हुए हैं जिनका चलन उन्नीसवीं शताब्दी में बढ़ता जा रहा था।

नई भारतीय लोक कला

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के बहुत सारे शहरों में एक नई लोक कला विकसित हुई।

बंगाल में कालीघाट स्थित मंदिर एक महत्वपूर्ण तीर्थस्थान था। वहाँ के स्थानीय गाँवों में रहने वाले **ख़र्रा** चित्रकार (जिन्हें पटुआ कहा जाता था) और मिट्टी के बर्तन बनाने वाले (पूर्वी भारत में कुमोर और उत्तरी भारत में कुम्हार) एक नई कला शैली विकसित करने लगे। वे आसपास के गाँवों से उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में कलकत्ता आ गए थे। उस समय कलकत्ता एक वाणिज्यिक और प्रशासकीय केंद्र के रूप में फैल रहा था। नए-नए औपनिवेशिक कार्यालय खुल रहे थे, नई इमारतों और सड़कों का निर्माण चल रहा था, नए बाज़ार खुल रहे थे। शहर में तरह-तरह के नए मौके पैदा हो रहे थे जहाँ आकर लोग कमा-खा सकते थे। ग्रामीण कलाकार भी नए ग्राहकों और नए संरक्षकों की उम्मीद में शहरों में आकर बसने लगे।

उन्नीसवीं सदी से पहले ग्रामीण पटुआ और कुमोर आमतौर पर पौराणिक विषयों और देवी-देवताओं की तसवीरें बनाते थे। कालीघाट जाने के बाद भी वे इसी तरह की धार्मिक चीज़ें बनाते रहे। परंपरागत रूप से ख़र्रा चित्रों की छवियाँ गोलाकार नहीं बल्कि सपाट हुआ करती थीं। अब कालीघाट चित्रकार अपनी छवियों में उभार पैदा करने के लिए छायाकरण का इस्तेमाल करने लगे जिससे उनकी तसवीरें त्रिआयामी दिखाई देने लगीं। परंतु अभी भी उनकी तसवीरें यथार्थपरक और जीवंत नहीं थीं। दरअसल, शुरुआती कालीघाट चित्रों में मुखर सुनियोजित अयथार्थवादी शैली स्पष्ट दिखाई देती है जिसमें छवियाँ विशाल और शक्तिशाली थीं, उनमें रेखाओं, विवरणों और रंगों का न्यूनतम प्रयोग किया गया था।

1840 के दशक के बाद कालीघाट कलाकारों में हम एक नया रुझान देखते हैं। जहाँ मूल्य-मान्यताएँ, रुचियाँ, सामाजिक कायदे-कानून और रीति-रिवाज़ इतनी

तेज़ी से बदल रहे थे, ऐसे समाज में रहने वाले कालीघाट चित्रकारों ने भी अपने आसपास की दुनिया पर ध्यान दिया और सामाजिक व राजनीतिक विषयों पर चित्र बनाने लगे। उन्नीसवीं सदी के आखिर के बहुत सारे कालीघाट चित्रों में ब्रिटिश शासन के अंतर्गत सामाजिक जीवन को दर्शाया गया है। अपने चित्रों के माध्यम से ये कलाकार अकसर इन नए बदलावों का उपहास करते थे, अंग्रेज़ी भाषी और पश्चिमी आदतों में रँगे, साहिबों की तरह सजे, सिगरेट पीते या कुर्सियों पर बैठे लोगों के इन नए शौकों का मज़ाक उड़ाते थे। उन्होंने पश्चिमी रंग में रँगे बाबू का मजाक उड़ाया, भ्रष्ट पुजारियों की आलोचना की और औरतों को घर से बाहर न निकलने की सलाह दी। ये कलाकार अकसर अमीरों के खिलाफ आम आदमी के गुस्से और सामाजिक तौर-तरीकों में आ रहे आमूल बदलावों के प्रति बहुत सारे लोगों में पैदा हो रहे भय को अभिव्यक्त करते थे।

कालीघाट तसवीरों में से बहुत सारी बड़ी संख्या में छापकर बाज़ारों में भी बेची गई। शुरुआत में ये तसवीरें लकड़ी के तख्तों पर खुदाई करके बनाई जाती थीं। इन खुदे हुए ठप्पों पर स्याही लगाकर उन्हें कागज पर दबाया जाता था और इस तरह लकड़ी के ठप्पों से जो छापे बनते थे उन पर हाथ से रंग भर दिए जाते थे। इस तरह एक ही ठप्पे से बहुत सारी तसवीरें बनाई जा सकती थीं। उन्नीसवीं सदी के आखिर तक भारत के विभिन्न भागों में प्रिंटिंग प्रेस लगाई जाने लगी थीं जिनमें और भी ज्यादा संख्या में चित्र छापे जा सकते थे। इन तसवीरों को बाज़ार में बहुत कम कीमत पर बेचा जाता था। यहाँ तक कि गरीब लोग भी उन्हें खरीद सकते थे।

लोकप्रिय तसवीरें केवल गरीब ग्रामीण कालीघाट चित्रकारों द्वारा ही नहीं बनाई जा रही थीं। अकसर मध्यमवर्गीय चित्रकारों ने भी प्रिंटिंग प्रेस लगाए और बाज़ार के लिए चित्र तैयार किए। उन्हें **जीवन अध्ययन**, तैल चित्रकारी और छापे बनाने की नई विधियों का ब्रिटिश कला संस्थानों में प्रशिक्षण दिया जाता था। कलकत्ता आर्ट्स स्टूडियो उन्नीसवीं सदी के आखिर के कलकत्ता में स्थापित की गई सबसे सफल प्रिंटिंग प्रेसों में से एक थी। इस प्रेस में प्रसिद्ध बंगाली व्यक्तियों के साथ-साथ पौराणिक पात्रों की भी आदमकद तसवीरें बनाई जाती थीं। ये पौराणिक तसवीरें यथार्थपरक होती थीं। इन तसवीरों की पृष्ठभूमि में आकर्षक भूदृश्य, पहाड़ियाँ, झीलें, नदियाँ और जंगल होते थे। दुकानों और सड़क पर लगीं अस्थायी दुकानों पर आपने प्रचलित कैलेंडरों में हिंदू देवी-देवताओं की ऐसी बहुत सारी तसवीरें देखी होंगी। इन तसवीरों की विशेषता उन्नीसवीं सदी के आखिर में मुखर रूप से सामने आई।

***चित्र 14**–हाथी पर बैठ कर शेर का शिकार करता एक अंग्रेज़, कालीघाट पेंटिंग, उन्नीसवीं सदी के मध्य में, कलकत्ता (कागज पर जलरंग)।*

यह पेंटिंग इस बात का एक बढ़िया उदाहरण है कि पटवा कलाकार भारत में अंग्रेजों के जीवन को किस तरह देखते थे। उपनिवेशों में अंग्रेज शिकार का बहुत शौक रखते थे। उनके लिए यह एक ऐसा खेल था जिसमें वे अपने साहस व मर्दानगी का प्रदर्शन कर सकते थे।

जीवन अध्ययन–कलाकारों के लिए जीवित मॉडलों की मुद्राओं के आधार पर मानव आकृतियों का अध्ययन।

***चित्र 15**–कुर्सी पर बैठा एक बाबू, काली घाट पेंटिंग, उन्नीसवीं शताब्दी।*

इस तरह की पेंटिंग में आप कलाकार के इस भय को साफ देख सकते हैं कि बाबू लोग पश्चिम की नकल करेंगे और स्थानीय संस्कृति की सारी अच्छी चीज़ों को छोड़ देंगे। यहाँ बाबू को एक मसखरे की तरह दिखाया गया है जो ऊँची एड़ी वाले जूते पहने अजीब नोकदार पायों वाली कुर्सी पर बैठा है।

चित्र 16–नल–दमयंती की कहानी का एक दृश्य, कलकत्ता आर्ट स्टूडियो द्वारा निर्मित, 1878–1880.

इस चित्र की तुलना चित्र 15 के साथ कीजिए। दोनों में कितना फर्क है? आपको कौन सा चित्र ज्यादा यथार्थपरक लगता है?

चित्र 17–काली, कलकत्ता आर्ट स्टूडियो द्वारा निर्मित, 1880 के दशक में।

यह 1905 में अंग्रजों द्वारा प्रतिबंधित कर दी गई सिगरेट के एक भारतीय ब्रांड का विज्ञापन है। इसमें आप देवी द्वारा मार गिराए गए दानवों में ब्रिटिश सिपाहियों के सिर देख सकते हैं। इस प्रकार, राष्ट्रवादी विचारों को अभिव्यक्त करने और लोगों को ब्रिटिश शासन के खिलाफ उद्वेलित करने के लिए धार्मिक छवियों का इस्तेमाल किया जाता था।

इस तरह की लोकप्रिय तसवीरें भारत के अन्य भागों में भी बनाई जा रही थीं। राष्ट्रवाद के प्रचार–प्रसार के चलते प्रारंभिक बीसवीं सदी की जनसाधारण के इस्तेमाल की तसवीरों में राष्ट्रवादी संदेश दिए जाने लगे थे। इनमें से बहुत सारी तसवीरों में आप भारत माता को देवी के रूप में देख सकते हैं जो राष्ट्रीय झंडा लिए हुए होती है। कई तसवीरों में राष्ट्रीय नायक अपना शीश माता के चरणों में चढ़ा रहे होते हैं जबकि कुछ तसवीरों में देवी–देवता अंग्रेज़ों का कत्लेआम कर रहे हैं।

चित्र 18–भारत माता, एक प्रचलित तसवीर।

कैमरे की आँख से : भारत

भारत के बारे में यूरोपीय चित्रकारों द्वारा बनायी गई बहुत सारी तसवीरें आप देख चुके हैं। उन्होंने भारत की नाना प्रकार की तसवीरें बनाई थीं। कुछ इसी तरह के चित्र कई छायाचित्रकार ने भी अपने कैमरे में कैद किए।

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक यूरोप से कई छायाचित्रकार भी भारत आने लगे थे। उन्होंने तसवीरें खींचीं, स्टूडियो खोले और छायाचित्रकारी की कला को बढ़ावा देने के लिए छायाचित्रकारी से जुड़ी समितियों का गठन किया। इनमें से कुछ रूपचित्रकार थे जो अंग्रेज़ अफसरों की तसवीर खींचने लगे थे। इन तसवीरों में अंग्रेज अफसरों को रौबीले और ताकतवर अंदाज़ में दिखाया जाता था। कई छायाचित्रकारों ने टूटी-फूटी इमारतों और मनोहारी भूदृश्यों की खोज में देश भर की यात्राएँ कीं, ठीक उसी तरह से उन छायाचित्रकारों ने जिनकी चर्चा हमने की है। कई छायाचित्रकार ऐसे थे जो ब्रिटिश सैनिक विजय के दृश्यों को कैमरे में कैद करते थे। इनके अलावा कई ऐसे छायाचित्रकार भी थे जो भारत को एक आदिम देश साबित करने के लिए यहाँ की सांस्कृतिक विविधता को दर्ज कर रहे थे।

***चित्र 19**–विलियम हॉडसन के नेतृत्व में घुड़सवार रेज़िमेंट जिसने 1857 के विद्रोह को कुचलने में एक अहम भूमिका निभाई थी।*

गौर से देखें कि इसमें अंग्रेज़ अफसर बीच में प्रभुत्वशाली मुद्रा में खड़ा है जबकि उसके सिपाही उसके इर्द-गिर्द खड़े हैं।

***चित्र 20**–सती चौरा घाट, कानपुर, सैमुअल बूर्न द्वारा लिया गया फ़ोटो, 1865*

सैमुअल बूर्न 1860 के दशक के आरंभ में भारत आए थे और उन्होंने कलकत्ता में बूर्न एण्ड शेफ़र्ड के नाम से एक छायाचित्रकारी स्टूडियो की स्थापना की थी। यह कलकत्ता का सबसे प्रसिद्ध स्टूडियो था। इस फ़ोटो की तुलना चित्र 2 के साथ कीजिए। इनमें आप देख सकते हैं कि चित्रकार और कैमरामैन, दोनों ही खंडहरों की तसवीरों से आकर्षित हो रहे हैं।
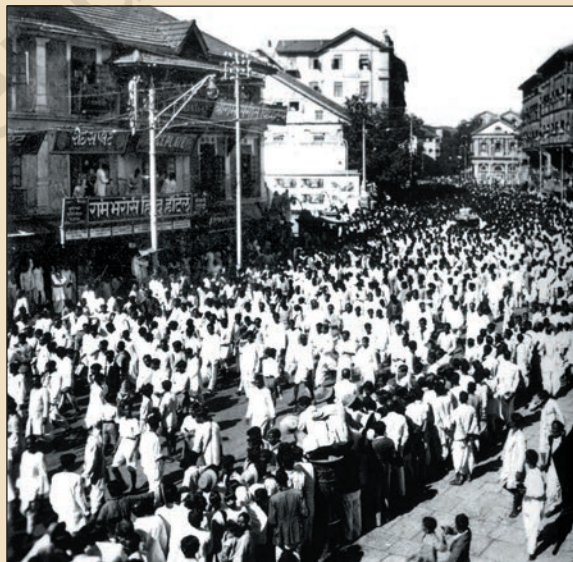
***चित्र 21**–बम्बई की एक सड़क पर राष्ट्रवादी जूलुस, विकार द्वारा लिया गया छायाचित्र।*

उन्नीसवीं सदी के आखिर तक भारतीय छायाचित्रकार भी भारत की विविध छवियाँ दिखाने वाली तसवीरें खींचने लगे थे। उन्होंने राष्ट्रवादी जुलूसों, सभाओं और लोगों के दैनिक जीवन के चित्र खींचे थे।

चित्र 22–विक्टोरिया टर्मिनस, बम्बई।
इस रेलवे स्टेशन का निर्माण 1878 से 1887 के बीच किया गया था।

नई इमारतें और नई शैलियाँ

ब्रिटिश शासन के साथ वास्तुशैलियों में भी बदलाव आया। नए शहरों और नई इमारतों के लिए नई शैलियों को आज़माया गया।

चित्र 22 को देखिए। इसमें नुकीली मेहराबें और लंबाई पर जोर देती संरचना दिखाई दे रही है। इसे गॉथिक शैली कहा जाता है। बम्बई में उन्नीसवीं सदी के मध्य में बनी ज़्यादातर इमारतें इसी शैली की थीं। अब इस इमारत की तुलना चित्र 23 में दिखाई दे रही इमारत के साथ कीजिए। इसमें आप गोल मेहराबें और स्तंभ देख सकते हैं जो एक अलग वास्तुशैली का उदाहरण है। अंग्रेजों ने कलकत्ता में इस शैली का इस्तेमाल किया और यह यूनान व रोम की शास्त्रीय शैली पर आधारित थी। अंग्रेज़ चाहते थे कि उनकी इमारतें उनकी सत्ता और वैभव, उनकी सांस्कृतिक उपलब्धियों को अभिव्यक्त करें।
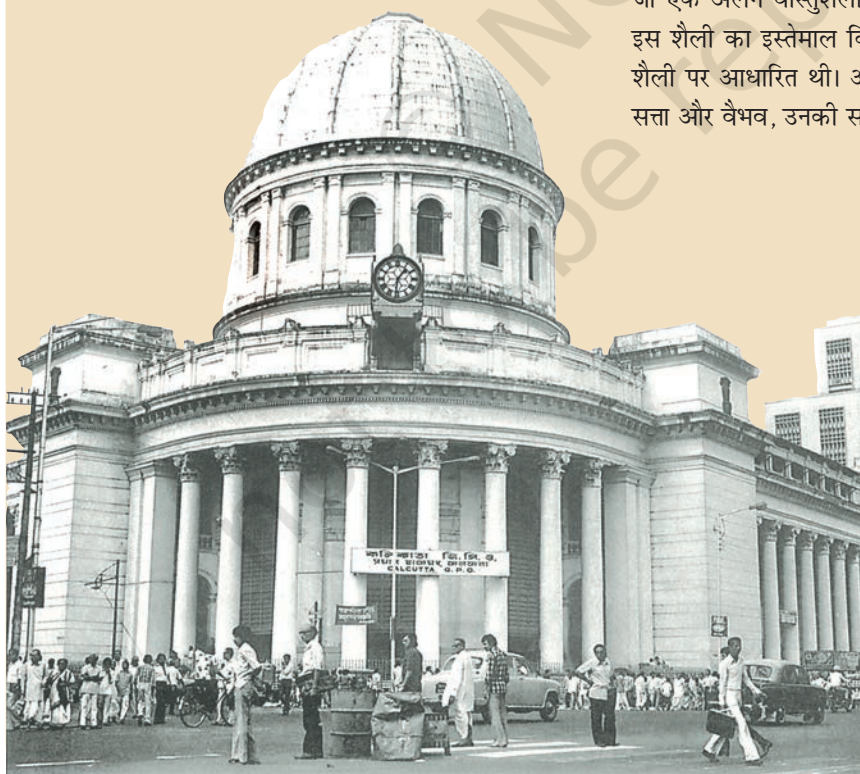
चित्र 23–सेंट्रल पोस्ट ऑफिस, कलकत्ता, 1860 के दशक में निर्मित।

राष्ट्रीय कला की चाह

उन्नीसवीं सदी के आखिर में कला और राष्ट्रवाद के बीच और गहरा संबंध स्थापित हो गया। अब बहुत सारे चित्रकार एक ऐसी शैली विकसित करने लगे जिसे आधुनिक और भारतीय, दोनों कसौटियों पर कसा जा सके।

राष्ट्रीय शैली को किस तरह परिभाषित किया जा सकता था?

राजा रवि वर्मा की कला

राजा रवि वर्मा उन शुरुआती चित्रकारों में से थे जिन्होंने आधुनिक और राष्ट्रीय कला शैली विकसित करने में योगदान दिया। रवि वर्मा केरल में त्रावणकोर के महाराजाओं के परिवार से थे और उन्हें राजा कहकर ही संबोधित किया जाता था। उन्होंने तैल चित्रकारी और यथार्थपरक जीवन अध्ययन की पश्चिमी कला पर महारत हासिल की परन्तु भारतीय पुराणों के चित्र बनाए। उन्होंने रामायण और महाभारत के अनगिनत दृश्यों को किरमिच पर उतारा। बम्बई प्रेज़ीडेंसी की अपनी यात्रा के दौरान उन्होंने पौराणिक कहानियों को जिस तरह मंच पर देखा था, उसी से प्रेरणा लेकर उन्होंने ये नाटकीय दृश्य बनाए थे। 1880 के दशक से रवि वर्मा के पौराणिक चित्र भारतीय राजे-रजवाड़ों और कला संग्राहकों के बीच जुनून की हद तक लोकप्रिय हो चुके थे। राजाओं ने अपने महलों की दीवारें रवि वर्मा के चित्रों से पाट दी थीं।

इस तरह के चित्रों के प्रति गहरे आकर्षण को देखते हुए रवि वर्मा ने एक चित्र निर्माण टोली बनायी और बम्बई के बाहरी छोर पर एक प्रिंटिंग प्रेस लगाने का फैसला किया। यहाँ उनके धार्मिक चित्रों की रंगीन प्रतियाँ बड़ी संख्या में बनाई जाने लगीं। अब आम लोग भी उनकी सस्ती तसवीरों को खरीद सकते थे।

चित्र 24-कृष्ण संधान, राजा रवि वर्मा द्वारा बनाया गया चित्र।

राष्ट्रीय कला की भिन्न छवि

बंगाल में राष्ट्रवादी कलाकारों का एक नया समूह रवीन्द्रनाथ टैगोर के भतीजे अबनिंद्रनाथ टैगोर (1871-1951) के इर्द-गिर्द जुटने लगा। इस समूह के कलाकारों ने रवि वर्मा की कला को नकल आधारित और पश्चिमी रंग-ढंग की कहकर खारिज कर दिया और ऐलान किया कि इस तरह की शैली राष्ट्र के प्राचीन मिथकों और जनश्रुतियों को चित्रित करने के लिए उपयुक्त नहीं है। उनका मानना था कि पेंटिंग की असली भारतीय शैली गैर-पश्चिमी कला परंपराओं पर आधारित होनी चाहिए और उसे पूर्वी दुनिया के आध्यात्मिक तत्व को पकड़ना चाहिए। इस तरह उन्होंने तैल चित्रकारी और यथार्थपरक शैली से दूरी बनाई और लघुचित्रों की मध्यकालीन भारतीय परंपरा और

चित्र 25–मेरी माँ, अबनिंद्रनाथ टैगोर द्वारा चित्रित (जलरंग)।

चित्र 26–कालीदास की कविता मेघदूत का निर्वासित यक्ष, अबनिंद्रनाथ का चित्र (जलरंग, 1904)।

इसमें धुंध भरी पृष्ठभूमि, हलके रंग और किसी गाढ़ी रेखा की अनुपस्थिति साफ देखी जा सकती है। यह शैली जापानी जलरंग भूदृश्यों की तसवीरों में प्रायः दिखाई देती है (देखें चित्र 28)।

चित्र 27–जातुगृह दाह (पांडवों के वनवास के दौरान लाक्षागृह के जलने का चित्र), नंदलाल बोस द्वारा चित्रित (जलरंग, 1912)।

नंदलाल बोस अबनिंद्रनाथ टैगोर के विद्यार्थी थे। इस चित्र में लकीरों का लयपूर्ण बहाव, लंबे हाथ और भावमुद्राओं को देखिए।

अबनिंद्रनाथ और नंदलाल केवल पुरानी शैलियों का अनुकरण ही नहीं कर रहे थे बल्कि उन्होंने पुरानी शैली में संशोधन किए और उसे अपने ढंग से अपनाया। इस पेंटिंग में आप देख सकते हैं कि किस तरह नंदलाल ने अपनी तसवीर में त्रिआयामी प्रभाव पैदा करने के लिए छायाकरण का इस्तेमाल किया है। अजंता के चित्रों में आपको ऐसा नहीं दिखेगा।

गतिविधि

आपने कक्षा 7 की इतिहास की पुस्तक में भारतीय लघुचित्रों की जो छवियाँ देखी थीं उन्हें चित्र 25 के साथ मिलाकर देखिए। क्या आप इनमें कोई समानताएँ बता सकते हैं? दोनों के बीच फर्क भी बताएँ।

अंजता की गुफाओं में बने भित्ति चित्रों की प्राचीन कला से प्रेरणा लेने लगे। ये लोग एशियाई कला आंदोलन खड़ा करने के लिए उसी दौरान भारत की यात्रा पर आए जापानी कलाकारों से भी प्रभावित थे।

इन सालों में पनपी नई "भारतीय शैली" के कई चित्रों में हम इन विभिन्न चित्रात्मक तत्वों का मिश्रण देख सकते हैं। उदाहरण के लिए, चित्र 25 को देखिए। अबनिंद्रनाथ टैगोर द्वारा बनाए गए इस चित्र में राजपूत लघुचित्रों का प्रभाव देखा जा सकता है। चित्र 26 में जापानी चित्रों का और चित्र 27 में अंजता की शैली का प्रभाव साफ दिखाई दे रहा है।

एक सच्ची भारतीय शैली कैसी होनी चाहिए, यह तय करने की कोशिशें इसके बाद भी चलती रहीं। 1920 के दशक के बाद कलाकारों की एक नई पीढ़ी सामने आई जो अबनिंद्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित की गई कलाशैली से अलग विचार रखती थी। इनमें से कुछ लोगों को यह कलाशैली भावनात्मक दिखाई देती थी जबकि कुछ का मानना था कि आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति का केंद्रीय पहलू नहीं हो सकती। उनका मानना था कि कलाकारों को प्राचीन ग्रंथों की तसवीरें बनाने की बजाय असली जीवन को देखना चाहिए और प्राचीन कला रूपों की बजाय जीवित लोक कला एवं जनजातीय डिज़ाइनों से प्रेरणा लेनी चाहिए। जैसे-जैसे यह बहस चलती रही, कला के क्षेत्र में नए आंदोलन उठे और नई-नई कलाशैलियाँ आती रहीं।

अन्यत्र

काकुज़ो तथा एशियाई कला आंदोलन

1904 में ओकाकुरा काकुज़ो ने जापान में एक किताब प्रकाशित की जिसका नाम था 'पूर्व के आदर्श' *(The ideals of the east)*। यह पुस्तक अपनी पहली पंक्ति की वजह से बहुत प्रसिद्ध हुई थी। यह पंक्ति थी - "एशिया एक है।" ओकाकुरा का कहना था कि पश्चिम द्वारा एशिया का अपमान किया गया है और एशियाई राष्ट्रों को पश्चिमी प्रभुत्व का मिलकर विरोध करना चाहिए।

चित्र 28–देवदार के पेड़, हासेगावा तोहाकु द्वारा चित्रित, सोलहवीं शताब्दी में।

ओकाकुरा ने जापानी कला पर शोध किया और एक ऐसे समय में जापानी कला की परंपरागत तकनीकों को बचाने की ज़रूरत पर ज़ोर दिया जो कि पश्चिमी शैली के कारण खतरे में पड़ती जा रही थीं। उन्होंने यह परिभाषित करने का प्रयास किया कि आधुनिक कला क्या होती है और परंपराओं को बनाए रखने तथा उनका आधुनिकीकरण करने के लिए क्या किया जाना चाहिए। वह पहली जापानी कला अकादमी के प्रधान संस्थापक थे।

ओकाकुरा ने शांतिनिकेतन का दौरा किया था और रवींद्रनाथ टैगोर तथा अबनिंद्रनाथ टैगोर पर गहरा प्रभाव डाला था।

फिर से याद करें

1. रिक्त स्थान भरें:

   (क) जिस कला शैली में चीज़ों को गौर से देखकर उनकी यथावत तसवीर बनाई जाती है उसे .... कहा जाता है।

   (ख) जिन चित्रों में भारतीय भूदृश्यों को अनूठा, अनछुआ दिखाया जाता था उनकी शैली को .... कहा जाता है।

आइए कल्पना करें

मान लीजिए कि आप चित्रकार हैं और बीसवीं सदी की शुरुआत में एक "राष्ट्रीय" चित्र शैली विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं। इस अध्याय में जिन तत्वों पर चर्चा की गई है उनमें से आप किन-किन को अपनी शैली में शामिल करेंगे? अपने चयन की वजह भी बताएँ।

(ग) जिस चित्रशैली में भारत में रहने वाले यूरोपीयों के सामाजिक जीवन को दर्शाया जाता था उन्हें .... कहा जाता है।

(घ) जिन चित्रों में ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहास और उनकी विजय के दृश्य दिखाए जाते थे उन्हें .... कहा जाता है।

2. बताएँ कि निम्नलिखित में से कौन-कौन सी विधाएँ और शैलियाँ अंग्रेज़ों के ज़रिए भारत में आईं :

(क) तैल चित्र (ख) लघुचित्र

(ग) आदमकद छायाचित्र (घ) परिप्रेक्ष्य विधा का प्रयोग

(च) भित्ति चित्र

3. इस अध्याय में दिए गए किसी एक ऐसे चित्र का अपने शब्दों में वर्णन करें जिसमें दिखाया गया है कि अंग्रेज़ भारतीयों से ज्यादा ताकतवर थे। कलाकार ने यह बात किस तरह दिखाई है?

4. ख़र्रा चित्रकार और कुम्हार कलाकार कालीघाट क्यों आए? उन्होंने नए विषयों पर चित्र बनाना क्यों शुरू किया?

5. राजा रवि वर्मा के चित्रों को राष्ट्रवादी भावना वाले चित्र कैसे कहा जा सकता है?

आइए विचार करें

6. भारत में ब्रिटिश इतिहास के चित्रों में साम्राज्यवादी विजेताओं के रवैये को किस तरह दर्शाया जाता था?

7. आपके अनुसार कुछ कलाकार एक राष्ट्रीय कला शैली क्यों विकसित करना चाहते थे?

8. कुछ कलाकारों ने सस्ती कीमत वाले छपे हुए चित्र क्यों बनाए? इस तरह के चित्रों को देखने से लोगों के मस्तिष्क पर क्या असर पड़ते थे?

आइए करके देखें

9. अपने आसपास मौजूद किसी परंपरागत कला शैली पर ध्यान दें। पता लगाएँ कि पिछले 50 साल के दौरान उसमें क्या बदलाव आए हैं? आप ये भी पता लगा सकते हैं कि इन कलाकारों को किन लोगों से मदद मिलती रही और उनकी कला को कौन लोग देखते हैं? शैलियों और दृश्यों में आए बदलावों पर ज़रूर ध्यान दें।

11 राष्ट्रीय आंदोलन का संघटन : 1870 के दशक से 1947 तक

चित्र 1 – भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान प्रदर्शनकारियों पर आँसू गैस के गोले छोड़ती पुलिस।

पिछले अध्यायों में हम निम्नलिखित का अध्ययन कर चुके हैं :

- भारतीय भूक्षेत्र पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा और रियासतों का अधिग्रहण
- नये कानूनों और प्रशासकीय संस्थाओं की शुरुआत
- किसानों और आदिवासियों की ज़िंदगी में बदलाव
- उन्नीसवीं सदी में आए शैक्षणिक बदलाव
- महिलाओं की स्थिति से संबंधित वाद-विवाद
- जाति व्यवस्था को चुनौतियाँ
- सामाजिक एवं धार्मिक सुधार
- 1857 का विद्रोह और उसके बाद की स्थिति
- हस्तकलाओं का पतन और उद्योगों का विकास

इन मुद्दों के बारे में आपने जो कुछ पढ़ा, उसके आधार पर क्या आपको ऐसा लगता है कि भारत के लोग ब्रिटिश शासन से असंतुष्ट थे? यदि हाँ तो विभिन्न समूह और वर्ग क्यों असंतुष्ट थे?

राष्ट्रवाद का उदय

उपरोक्त बदलावों ने लोगों को एक अहम सवाल के बारे में सोचने के लिए विवश कर दिया : यह देश क्या है और किसके लिए है? इसका जवाब धीरे-धीरे इस रूप में सामने आया : भारत का मतलब है यहाँ की जनता – भारत, यहाँ रहने वाले किसी भी वर्ग, रंग, जाति, पंथ, भाषा या जेंडर वाले तमाम लोगों का घर है। यह देश और इसके सारे संसाधन और इसकी सारी व्यवस्था उन सभी के लिए है। इस जवाब के साथ ये अहसास भी सामने आया कि अंग्रेज़ भारत के संसाधनों व यहाँ के लोगों की ज़िंदगी पर कब्ज़ा जमाए हुए हैं और जब तक यह नियंत्रण खत्म नहीं होता, भारत यहाँ के लोगों का, भारतीयों का नहीं हो सकता।

यह चेतना 1850 के बाद बने राजनीतिक संगठनों में साफ दिखाई देने लगी थी। 1870 और 1880 के दशकों में बने राजनीतिक संगठनों में यह चेतना और गहरी हो चुकी थी। इनमें से ज्यादतर संगठनों की बागडोर वकील आदि अंग्रेज़ी शिक्षित पेशेवरों के हाथों में थी। पूना सार्वजनिक सभा, इंडियन एसोसिएशन, मद्रास महाजन सभा, बॉम्बे रेज़ीडेंसी एसोसिएशन और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आदि इस तरह के प्रमुख संगठन थे।

"पूना सार्वजनिक सभा" नाम को गौर से देखिए। "सार्वजनिक" का मतलब होता है "सब लोगों का या सबके लिए" (सर्व=सभी, जनिक=लोगों का)। हालांकि इनमें से बहुत सारे संगठन देश के खास हिस्सों में काम कर रहे थे लेकिन वे अपने लक्ष्य को भारत के सभी लोगों का लक्ष्य बताते थे। उनके मुताबिक, उनके लक्ष्य किसी खास इलाके, समुदाय या वर्ग के लक्ष्य नहीं थे। वे इस सोच के साथ काम कर रहे थे कि लोग **सम्प्रभु** हों। सम्प्रभुता एक आधुनिक विचार और राष्ट्रवाद का बुनियादी तत्व होता है। ये संगठन इस धारणा से चलते थे कि भारतीय जनता को अपने मामलों के बारे में फैसले लेने की आज़ादी होनी चाहिए।

सम्प्रभु – बाहरी हस्तक्षेप के बिना स्वतंत्र रूप से कदम उठाने की क्षमता।

1870 और 1880 के दशकों में ब्रिटिश शासन के प्रति असंतोष और ज़्यादा गहरा हुआ। 1878 में आर्म्स एक्ट पारित किया गया जिसके जरिए भारतीयों द्वारा अपने पास हथियार रखने का अधिकार छीन लिया गया। उसी साल वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट भी पारित किया गया जिससे सरकार की आलोचना करने वालों को चुप कराया जा सके। इस कानून में प्रावधान था कि अगर किसी अखबार में कोई 'आपत्तिजनक' चीज छपती है तो सरकार उसकी प्रिंटिंग प्रेस सहित सारी सम्पत्ति को जब्त कर सकती है। 1883 में सरकार ने इल्बर्ट बिल लागू करने का प्रयास किया। इसको लेकर काफी हंगामा हुआ। इस विधेयक में प्रावधान किया गया था कि भारतीय न्यायाधीश भी ब्रिटिश या यूरोपीय व्यक्तियों पर मुकदमे चला सकते हैं ताकि भारत में काम करने वाले अंग्रेज़ और भारतीय न्यायाधीशों के बीच समानता स्थापित की जा सके। जब अंग्रेज़ों के विरोध की वजह से सरकार ने यह विधेयक वापस ले लिया तो भारतीयों ने इस बात का काफी विरोध किया। इस घटना से भारत में अंग्रेज़ों के असली रवैये का पता चलता था।

प्रचारक – ऐसा व्यक्ति जो सूचनाओं के प्रसार, रिपोर्ट्स, बैठकों में भाषण आदि के ज़रिए किसी खास विचार का प्रचार-प्रसार करता है।

पढ़े-लिखे भारतीयों के एक अखिल भारतीय संगठन की ज़रूरत 1880 से ही महसूस की जा रही थी परन्तु इल्बर्ट विधेयक ने इस चाह को और गहरा कर दिया था। 1885 में देश भर के 72 प्रतिनिधियों ने बम्बई में सभा करके भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का फैसला लिया। संगठन के प्रारम्भिक नेता – दादा भाई नौरोजी, फिरोज़शाह मेहता, बदरूद्दीन तैयब जी, डब्ल्यू. सी. बैनर्जी, सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, रोमेशचन्द्र दत्त, एस. सुब्रमण्यम अय्यर एवं अन्य – प्राय: बम्बई और कलकत्ता के ही थे। नौरोजी व्यवसायी और **प्रचारक** थे। वे लंदन में रहते थे और कुछ समय के लिए ब्रिटिश संसद के सदस्य भी रहे। उन्होंने युवा राष्ट्रवादियों का मार्गदर्शन किया। सेवानिवृत्त ब्रिटिश अफसर ए.ओ.ह्यूम ने भी विभिन्न क्षेत्रों के भारतीयों को निकट लाने में अहम भूमिका अदा की।

चित्र 2 – दादाभाई नौरोजी।
नौरोजी की पुस्तक *पावर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इंडिया* में ब्रिटिश शासन के आर्थिक परिणामों की बहुत तीखी आलोचना की गई थी।

स्रोत 1

कांग्रेस किसके पक्ष में बोलने का प्रयास कर रही थी?

जनवरी 1886 में *दि इंडियन मिरर* नामक अखबार ने लिखा:

बम्बई में आयोजित प्रथम राष्ट्रीय कांग्रेस हमारे देश की भावी संसद का केंद्रक है और यह हमारे देशवासियों के लिए अकल्पनीय रूप से लाभकारी परिणामों को जन्म देगी।

बदरूद्दीन तैयबजी ने 1887 में अध्यक्ष की हैसियत से कांग्रेस को संबोधित करते हुए कहा था :

यह कांग्रेस भारत के किसी एक वर्ग या समुदाय के प्रतिनिधियों से मिलकर नहीं बनी है बल्कि यह भारत के सभी समुदायों की संस्था है।

उभरता हुआ राष्ट्र

अकसर कहा जाता है कि अपने पहले बीस सालों में कांग्रेस अपने उद्देश्य और तरीकों के लिहाज़ से "मध्यमार्गी" पार्टी थी। इस दौरान कांग्रेस ने सरकार और शासन में भारतीयों को और ज़्यादा जगह दिए जाने के लिए आवाज़ उठाई। कांग्रेस का आग्रह था कि विधान परिषदों में भारतीयों को ज़्यादा जगह दी जाए, परिषदों को ज़्यादा अधिकार दिए जाएँ और जिन प्रांतों में परिषदें नहीं हैं वहाँ उनका गठन किया जाए। कांग्रेस चाहती थी कि सरकार में भारतीयों को भी ऊँचे पद दिए जाएँ। इस काम के लिए उसने माँग की कि सिविल सेवा के लिए लंदन के साथ-साथ भारत में भी परीक्षा आयोजित की जाए।

गतिविधि

शुरुआत से ही कांग्रेस *सभी* भारतीय *लोगों* के हक में और उनकी ओर से बोलने का संकल्प व्यक्त कर रही थी। कांग्रेस ने ऐसा क्यों किया?

निरस्त करना – किसी कानून को समाप्त करना, किसी कानून की वैधता अधिकृत रूप से समाप्त कर देना।

शासन व्यवस्था के भारतीयकरण की माँग नस्लवाद के खिलाफ चल रहे आंदोलन का एक हिस्सा थी क्योंकि तब तक ज़्यादातर महत्वपूर्ण नौकरियों पर गोरे अफसरों का ही कब्ज़ा था। अंग्रेज़ आमतौर पर यह मानकर चलते थे कि भारतीयों को जिम्मेदारी भरे पद नहीं दिए जा सकते। क्योंकि अंग्रेज़ अफसर अपने भारी-भरकम वेतन का एक बड़ा हिस्सा ब्रिटेन भेज देते थे इसलिए लोगों को उम्मीद थी कि भारतीयकरण से यहाँ की धन-सम्पत्ति भी कुछ हद तक भारत में रुकने लगेगी। भारतीयों की माँग थी कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग किया जाए, आर्म्स एक्ट को **निरस्त** किया जाए और अभिव्यक्ति व बोलने की स्वतंत्रता दी जाए।

शुरुआती सालों में कांग्रेस ने कई आर्थिक मुद्दे भी उठाए। उसका कहना था कि भारत में ब्रिटिश शासन की वजह से ही गरीबी और अकाल पड़ रहे हैं। बढ़ते लगान के कारण काश्तकार और ज़मींदार विपन्न हो गए थे और अनाजों के भारी निर्यात की वजह से खाद्य पदार्थों का अभाव पैदा हो गया था। कांग्रेस की माँग थी कि लगान कम किया जाए, फौजी खर्चों में कटौती की जाए और सिंचाई के लिए ज़्यादा अनुदान दिए जाएँ। उसने नमक कर, विदेशों में भारतीय मज़दूरों के साथ होने वाले बर्ताव तथा भारतीयों के कामों में दखलअंदाजी करने वाले वन प्रशासन की वजह से वनवासियों की बढ़ती मुसीबतों के बारे में बहुत सारे प्रस्ताव पारित किए। इससे पता चलता है कि पढ़े-लिखे सम्पन्न वर्ग की संस्था होते हुए भी कांग्रेस केवल पेशेवर समूहों, ज़मींदारों और उद्योगपतियों के हक में ही नहीं बोल रही थी।

मध्यमार्गी नेता जनता को ब्रिटिश शासन के अन्यायपूर्ण चरित्र से अवगत कराना चाहते थे। उन्होंने अखबार निकाले, लेख लिखे और यह साबित करने का प्रयास किया कि ब्रिटिश शासन देश को आर्थिक तबाही की ओर ले जा रहा है। उन्होंने अपने भाषणों में ब्रिटिश शासन की निंदा की और जनमत निर्माण के लिए देश के विभिन्न भागों में अपने प्रतिनिधि भेजे। लेकिन मध्यमार्गियों को ये भी लगता था कि अंग्रेज़ स्वतंत्रता व न्याय के आदर्शों का सम्मान करते हैं इसलिए वे भारतीयों की न्यायसंगत माँगों को स्वीकार कर लेंगे। लिहाजा, कांग्रेस का मानना था कि सरकार को भारतीयों की भावना से अवगत कराया जाना चाहिए।

स्रोत 2

सोने की चाह में

डिनशॉ वाचा नामक एक मध्यमार्गी नेता ने 1887 में नौरोजी को संबोधित करते हुए लिखा था :

> आजकल फिरोज़शाह अपने निजी कामों में बहुत ज़्यादा व्यस्त हैं...। वे लोग पहले ही काफी अमीर हैं...। तेलंग साहब भी व्यस्त रहते हैं। मुझे समझ में नहीं आता अगर सभी लोग सोने की चाह में इतने व्यस्त रहेंगे तो देश की प्रगति कैसे हो सकती है?

गतिविधि

उपरोक्त टिप्पणी के आधार पर शुरुआती कांग्रेस के बारे में कौन सी समस्याओं का पता चलता है?

"स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है"

1890 के दशक तक बहुत सारे लोग कांग्रेस के राजनीतिक तौर-तरीकों पर सवाल खड़ा करने लगे थे। बंगाल, पंजाब और महाराष्ट्र में बिपिनचंद्र पाल, बाल गंगाधार तिलक और लाला लाजपत राय जैसे नेता ज़्यादा आमूल परिवर्तनवादी उद्देश्य और पद्धतियों के अनुरूप काम करने लगे थे। उन्होंने "निवेदन की राजनीति" के लिए नरमपंथियों की आलोचना की और आत्मनिर्भरता तथा रचनात्मक कामों के महत्त्व पर जोर दिया। उनका कहना था कि लोगों को सरकार के "नेक" इरादों पर नहीं बल्कि अपनी ताकत पर भरोसा करना चाहिए : लोगों को स्वराज के लिए लड़ना चाहिए। तिलक ने नारा दिया – "स्वतंत्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा!"

1905 में वायसराय कर्ज़न ने बंगाल का विभाजन कर दिया। उस वक्त बंगाल ब्रिटिश भारत का सबसे बड़ा प्रांत था। बिहार और उड़ीसा के कुछ भाग भी उस समय बंगाल का हिस्सा थे। अंग्रेज़ों का कहना था कि प्रशासकीय सुविधा को ध्यान में रखते हुए बंगाल का बँटवारा करना ज़रूरी था। परन्तु इस "प्रशासकीय सुविधा" का मतलब क्या था? इससे किसको "सुविधा" मिलने वाली थी? ज़ाहिर है इसका ताल्लुक अंग्रेज़ अफसरों और व्यापारियों के फायदे से था। लेकिन सरकार ने गैर–बंगाली इलाकों को अलग करने की बजाय उसके पूर्वी भागों को अलग करके असम में मिला दिया। पूर्वी बंगाल को अलग करने के पीछे अंग्रेज़ों का मुख्य उद्देश्य ये रहा होगा कि बंगाली राजनेताओं के प्रभाव पर अंकुश लगाया जाए और बंगाली जनता को बाँट दिया जाए।

बंगाल के विभाजन से देश भर में गुस्से की लहर फैल गई। मध्यमार्गी और आमूल परिवर्तनवादी, कांग्रेस के सभी धड़ों ने इसका विरोध किया। विशाल जनसभाओं का आयोजन किया गया और जुलूस निकाले गए। जनप्रतिरोध के नए–नए रास्ते ढूँढ़े गए। इससे जो संघर्ष उपजा उसे स्वदेशी आंदोलन के नाम से जाना जाता है। यह आंदोलन बंगाल में सबसे ताकतवर था परन्तु अन्य इलाकों में भी इसकी भारी अनुगूँज सुनाई दी। उदाहरण के

चित्र 3 *– बाल गंगाधर तिलक।*

मेज़ पर रखे अखबार का नाम देखिए। तिलक के संपादन में निकलने वाला मराठी अखबार – *केसरी* – ब्रिटिश शासन का कट्टर आलोचक बन गया था।

चित्र 4 *– स्वदेशी आंदोलन के दौरान हज़ारों लोग जुलूसों में शामिल होने लगे।*

चित्र 5 – लाला लाजपत राय।
लाजपत राय पंजाब के जाने-माने राष्ट्रवादियों में से थे। वह याचिका और निवेदनों की राजनीति का विरोध करने वाले आमूल परिवर्तनवादी के एक प्रमुख नेता थे। वह आर्यसमाज के भी सक्रिय सदस्य थे।

क्रांतिकारी हिंसा – समाज में आमूल बदलाव लाने के लिए हिंसा का उपयोग करना।

परिषद – प्रशासकीय, सलाहकारी या प्रातिनिधिक दायित्वों को निभाने वाली मनोनीत या निर्वाचित संस्था।

लिए, आंध्र के डेल्टा इलाकों में इसे वंदेमातरम् आंदोलन के नाम से जाना जाता था।

स्वदेशी आंदोलन ने ब्रिटिश शासन का विरोध किया और स्वयं सहायता, स्वदेशी उद्यमों, राष्ट्रीय शिक्षा और भारतीय भाषा के उपयोग को बढ़ावा दिया। स्वराज के लिए आमूल परिवर्तनवादी ने जनता को लामबंद करने और ब्रिटिश संस्थानों व वस्तुओं के बहिष्कार पर ज़ोर दिया। कुछ लोग ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के लिए **"क्रांतिकारी हिंसा"** के समर्थक थे।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में कई दूसरी महत्वपूर्ण घटनाएँ भी घटीं। 1906 में मुसलमान ज़मींदारों और नवाबों के एक समूह ने ढाका में ऑल इंडिया मुसलिम लीग का गठन किया। लीग ने बंगाल विभाजन का समर्थन किया। लीग की माँग थी कि मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचिका की व्यवस्था की जाए। 1909 में सरकार ने यह माँग मान ली। अब **परिषदों** में कुछ सीटें मुसलमान उम्मीदवारों के लिए आरक्षित कर दी गईं जिन्हें मुसलिम मतदाताओं द्वारा ही चुनकर भेजा जाना था। इससे राजनेताओं में अपने धार्मिक समुदाय के लोगों को अपना राजनीतिक समर्थक बनाने का लालच पैदा हो गया।

1907 में कांग्रेस टूट गई। मध्यमार्गी धड़ा बहिष्कार की राजनीति के विरुद्ध था। इन लोगों का मानना था कि इसके लिए बल प्रयोग की आवश्यकता होती है जो कि सही नहीं है। संगठन टूटने के बाद कांग्रेस पर मध्यमार्गी का दबदबा बन गया जबकि तिलक के अनुयायी बाहर से काम करने लगे। दिसंबर 1915 में दोनों खेमों में एक बार फिर एकता स्थापित हुई। अगले साल कांग्रेस और मुसलिम लीग के बीच ऐतिहासिक लखनऊ समझौते पर दस्तखत हुए और दोनों संगठनों ने देश में प्रातिनिधिक सरकार के गठन के लिए मिलकर काम करने का फैसला लिया।

जनराष्ट्रवाद का उदय

1919 के बाद अंग्रेज़ों के खिलाफ चल रहा संघर्ष धीरे-धीरे एक जनांदोलन में तब्दील होने लगा। किसान, आदिवासी, विद्यार्थी और महिलाएँ बड़ी संख्या में इस आंदोलन से जुड़ते गए। कई बार औद्योगिक मज़दूरों ने भी आंदोलन में योगदान दिया। बीस के दशक से कुछ खास व्यावसायिक समूह भी कांग्रेस को सक्रिय समर्थन देने लगे थे। ऐसा क्यों हुआ?

पहले विश्व युद्ध ने भारत की आर्थिक और राजनीतिक स्थिति बदल दी थी। इस युद्ध की वजह से ब्रिटिश भारत सरकार के रक्षा व्यय में भारी इज़ाफा हुआ था। इस खर्चे को निकालने के लिए सरकार ने निजी आय और व्यावसायिक मुनाफे पर कर बढ़ा दिया था। सैनिक व्यय में इज़ाफे तथा युद्धक आपूर्ति की वजह से ज़रूरी कीमतों की चीज़ों में भारी उछाल आया और आम लोगों की ज़िंदगी मुश्किल होती गई। दूसरी ओर व्यावसायिक समूह युद्ध से बेहिसाब मुनाफा कमा रहे थे। जैसा कि आप अध्याय 7 में देख चुके हैं, इस युद्ध में औद्योगिक वस्तुओं (जूट के बोरे, कपड़े, पटरियाँ) की माँग बढ़ा

गतिविधि

पता लगाएँ कि पहला विश्व युद्ध किन देशों ने लड़ा था?

दी और अन्य देशों से भारत आने वाले आयात में कमी ला दी थी। इस तरह, युद्ध के दौरान भारतीय उद्योगों का विस्तार हुआ और भारतीय व्यावसायिक समूह विकास के लिए और अधिक अवसरों की माँग करने लगे।

युद्ध ने अंग्रेज़ों को अपनी सेना बढ़ाने के लिए विवश किया। एक विदेशी युद्ध की खातिर गाँवों में सिपाहियों की भर्ती के लिए दवाब डाला जाने लगा। बहुत सारे सिपाहियों को दूसरे देशों में युद्ध के मोर्चों पर भेज दिया गया। इनमें से बहुत सारे सिपाही युद्ध के बाद यह समझदारी लेकर लौटे कि साम्राज्यवादी शक्तियाँ एशिया और अफ्रीका के लोगों का किस तरह शोषण कर रही हैं। फलस्वरूप ये लोग भी भारत में औपनिवेशिक शासन का विरोध करने लगे।

इसके अलावा, 1917 में रूस में क्रांति हुई। इस घटना के चलते किसानों और मज़दूरों के संघर्षों का समाचार तथा समाजवादी विचार बड़े पैमाने पर फैलने लगे थे जिससे भारतीय राष्ट्रवादियों को नई प्रेरणा मिलने लगी।

महात्मा गांधी का आगमन

इन्हीं हालात में महात्मा गांधी एक जननेता के रूप में सामने आए। गांधीजी 46 वर्ष की उम्र में 1915 में दक्षिण अफ्रीका से भारत लौटे थे। वे वहाँ पर नस्लभेदी पाबंदियों के खिलाफ अहिंसक आंदोलन चला रहे थे और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उनकी अच्छी मान्यता थी और लोग उनका आदर करते थे। दक्षिण अफ्रीकी आंदोलनों की वजह से उन्हें हिंदू, मुसलमान, पारसी और ईसाई; गुजराती, तमिल और उत्तर भारतीय; उच्च वर्गीय व्यापारी, वकील और मज़दूर, सब तरह के भारतीयों से मिलने–जुलने का मौका मिल चुका था।

महात्मा गांधी ने पहले साल पूरे भारत का दौरा किया। इस दौरान वे यहाँ के लोगों, उनकी ज़रूरतों और हालात को समझने में लगे रहे। उनके शुरुआती प्रयास चंपारण, खेड़ा और अहमदाबाद के स्थानीय आंदोलनों के रूप में

चित्र 6 – *नटाल कांग्रेस के संस्थापक, डरबन, दक्षिण अफ्रीका, 1895*

1895 में अन्य भारतीयों के साथ महात्मा गांधी ने नस्ली भेदभाव का विरोध करने के लिए नटाल कांग्रेस का गठन किया था। क्या आप चित्र में गांधीजी को पहचान सकते हैं? वह पिछली कतार के ठीक बीच में कोट और टाई पहने दिखाई दे रहे हैं।

सामने आए। इन आंदोलनों के माध्यम से उनका राजेंद्र प्रसाद और वल्लभ भाई पटेल से परिचय हुआ। 1918 में अहमदाबाद में उन्होंने मिल मज़दूरों की हड़ताल का सफलतापूर्वक नेतृत्व किया।

आइए अब 1919 से 1922 के बीच के आंदोलनों को कुछ गहराई से देखें।

रॉलट सत्याग्रह

1919 में गांधीजी ने अंग्रेज़ों द्वारा हाल ही में पारित किए गए रॉलट कानून के खिलाफ सत्याग्रह का आह्वान किया। यह कानून अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे मूलभूत अधिकारों पर अंकुश लगाने और पुलिस को और ज़्यादा अधिकार देने के लिए लागू किया गया था। महात्मा गांधी, मोहम्मद अली जिन्ना तथा अन्य नेताओं का मानना था कि सरकार के पास लोगों की बुनियादी स्वतंत्रताओं पर अंकुश लगाने का कोई अधिकार नहीं है। उन्होंने इस कानून को "शैतान की करतूत" और निरंकुशवादी बताया। गांधीजी ने लोगों से आह्वान किया कि इस कानून का विरोध करने के लिए 6 अप्रैल 1919 को अहिंसक विरोध दिवस के रूप में, "अपमान व याचना" दिवस के रूप में मनाया जाए और हड़तालें की जाएँ। आंदोलन शुरू करने के लिए सत्याग्रह सभाओं का गठन किया गया।

गतिविधि

जलियाँवाला बाग हत्याकांड के बारे में जानकारियाँ इकट्ठा करें। जलियाँवाला बाग क्या है? यहाँ किस तरह के अत्याचार हुए? ये अत्याचार कैसे हुए?

चित्र 7 – वह परिसर जहाँ जनरल डायर ने लोगों की सभा पर गोलियाँ चलाई थीं। बाद के इस चित्र में लोग दीवार पर बने गोलियों के निशानों की तरफ इशारा कर रहे हैं।

रॉलट सत्याग्रह ब्रिटिश सरकार के खिलाफ पहला अखिल भारतीय संघर्ष था हालांकि यह मोटे तौर पर शहरों तक ही सीमित था। अप्रैल 1919 में पूरे देश में जगह-जगह जुलूस निकाले गए और हड़तालों का आयोजन किया गया। सरकार ने इन आंदोलनों को कुचलने के लिए दमनकारी रास्ता अपनाया। बैसाखी (13 अप्रैल) के दिन अमृतसर में जनरल डायर द्वारा जलियाँवाला बाग में किया गया हत्याकांड इसी दमन का हिस्सा था। इस जनसंहार पर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी पीड़ा और गुस्सा जताते हुए **नाइटहुड** की उपाधि वापस लौटा दी।

नाइटहुड – ब्रिटिश राजा/रानी की तरफ से किसी व्यक्ति की अप्रतिम व्यक्तिगत सफलताओं या जनसेवा के लिए दी जाने वाली उपाधि।

रॉलट सत्याग्रह के दौरान लोगों ने ब्रिटिश शासन के खिलाफ हिंदुओं और मुसलमानों के बीच गहरी एकता बनाए रखने के लिए प्रयास किए। महात्मा गांधी भी यही चाहते थे। उनकी राय में भारत यहाँ रहने वाले *सभी* लोगों, यानी सभी हिंदुओं, मुसलमानों और अन्य धर्मों के लोगों का देश है। उनकी गहरी आकांक्षा थी कि हिंदू और मुसलमान किसी भी न्यायपूर्ण उद्देश्य के लिए एक-दूसरे का समर्थन करें।

ख़िलाफ़त आंदोलन और अहसयोग आंदोलन

ख़िलाफ़त का मुद्दा इसी तरह का एक ज्वलंत मुद्दा था। 1920 में अंग्रेज़ों ने तुर्की के सुल्तान (ख़लीफ़ा) पर बहुत सख्त संधि थोप दी थी। जलियाँवाला बाग हत्याकांड की तरह इस घटना पर भी भारत के लोगों में भारी गुस्सा था। भारतीय मुसलमान यह भी चाहते थे कि पुराने ऑटोमन साम्राज्य में स्थित पवित्र मुसलिम स्थानों पर ख़लीफ़ा का नियंत्रण बना रहना चाहिए। ख़िलाफ़त आंदोलन के नेता मोहम्मद अली और शौकत अली अब एक सर्वव्यापी असहयोग आंदोलन शुरू करना चाहते थे। गांधीजी ने उनके आह्वान का समर्थन किया और कांग्रेस से आग्रह किया कि वह पंजाब में हुए अत्याचारों (जलियाँवाला हत्याकांड) और ख़िलाफ़त के मामले में हुए अत्याचार के विरुद्ध मिल कर अभियान चलाएँ और स्वराज की माँग करें।

1921-22 के दौरान अहसयोग आंदोलन को और गति मिली। हज़ारों विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूल-कॉलेज छोड़ दिए। मोतीलाल नेहरू, सी.आर. दास, सी. राजगोपालाचारी और आसफ़ अली जैसे बहुत सारे वकीलों ने वकालत छोड़ दी। अंग्रेज़ों द्वारा दी गई उपाधियों को वापस लौटा दिया गया और विधान मंडलों का बहिष्कार किया गया। जगह-जगह लोगों ने विदेशी कपड़ों की होली जलाई। 1920 से 1922 के बीच विदेशी कपड़ों के आयात में भारी गिरावट आ गई। परंतु यह तो आने वाले तूफान की सिर्फ एक झलक थी। देश के ज़्यादातर हिस्से एक भारी विद्रोह के मुहाने पर खड़े थे।

लोगों की पहलकदमी

कई जगहों पर लोगों ने ब्रिटिश शासन का अहिंसक विरोध किया। लेकिन कई स्थानों पर विभिन्न वर्गों और समूहों ने गांधीजी के आह्वान के अपने हिसाब से अर्थ निकाले और इस तरह के रास्ते अपनाए जो गांधीजी के विचारों से मेल नहीं खाते थे। सभी जगह लोगों ने अपने आंदोलनों को स्थानीय मुद्दों के साथ जोड़कर आगे बढ़ाया। आइए ऐसे कुछ उदाहरणों पर विचार करें।

खेड़ा, गुजरात में पाटीदार किसानों ने अंग्रेज़ों द्वारा थोप दिए गए भारी लगान के खिलाफ अहिंसक अभियान चलाया। तटीय आंध्र प्रदेश और तमिलनाडु के भीतरी भागों में शराब की दुकानों की **घेरेबंदी** की गई। आंध्र प्रदेश के गुंटूर ज़िले में आदिवासी और गरीब किसानों ने बहुत सारे "वन सत्याग्रह" किए। इन सत्याग्रहों में कई बार वे चरायी शुल्क अदा किए बिना भी अपने जानवरों को जंगल में छोड़ देते थे। उनका विरोध इसलिए था

स्रोत 3

पीड़ा का चिरंतन सिद्धांत

अहिंसा से गांधीजी का क्या आशय था? अहिंसा किसी संघर्ष का आधार कैसे बन सकती थी? इस बारे में गांधीजी का यह कहना था :

> प्रतिफल की मामूली सी भी इच्छा किए बिना लगातार अच्छे काम करते जाने से अहिंसा का जन्म होता है...। यही अहिंसा का सबसे अमूल्य सबक है...। दक्षिण अफ्रीका में... मैंने अन्याय और अत्याचार को रोकने के उद्देश्य से पीड़ा के अनन्त सिद्धांत को सीख लिया है। इसका सकारात्मक आशय अहिंसा से है। इसके लिए आपको किसी भी व्यक्ति के हाथों खुशी-खुशी पीड़ा सहने के लिए तैयार रहना चाहिए और आप किसी के प्रति दुर्भावना नहीं रखेंगे, यहाँ तक कि आपके साथ बुरा करने वालों के साथ भी नहीं।
>
> *महात्मा गांधी, 12 मार्च 1938*

घेरेबंदी – लोगों को किसी इमारत या दुकान में जाने से रोकने के लिए किया जाने वाला विरोध प्रदर्शन।

महंत – *सिख गुरुद्वारों के धार्मिक कर्ता-धर्ता*

गैर-कानूनी बेदखली – पटाईदारों को उनके पट्टे से जबरन और गैर-कानूनी ढंग से निकाल देना।

क्योंकि औपनिवेशिक सरकार ने वन संसाधनों पर उनके अधिकारों को बहुत सीमित कर दिया था। उन्हें यकीन था कि गांधीजी उन पर लगे कर कम करा देंगे और वन कानूनों को खत्म करा देंगे। बहुत सारे वन गाँवों में किसानों ने स्वराज का ऐलान कर दिया क्योंकि उन्हें उम्मीद थी कि "गांधी राज" जल्दी ही स्थापित होने वाला है।

सिंध (मौजूदा पाकिस्तान) में मुसलिम व्यापारी और किसान ख़िलाफ़त के आह्वान पर बहुत उत्साहित थे। बंगाल में भी ख़िलाफ़त-अहसयोग के गठबंधन ने जबर्दस्त साम्प्रदायिक एकता को जन्म दिया और राष्ट्रीय आंदोलन को नई ताकत प्रदान की।

पंजाब में सिखों के अकाली आंदोलन ने अंग्रेज़ों की सहायता से गुरुद्वारों में जमे बैठे भ्रष्ट **महंतों** को हटाने के लिए आंदोलन चलाया। यह आंदोलन अहसयोग आंदोलन से काफी घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ दिखाई देता था। असम में "गांधी महाराज की जय" के नारे लगाते हुए चाय बागान मज़दूरों ने अपनी तनख्वाह में इज़ाफे की माँग शुरू कर दी। उन्होंने अंग्रेज़ी स्वामित्व वाले बागानों की नौकरी छोड़ दी। उनका कहना था कि गांधीजी भी यही चाहते हैं। उस दौर के बहुत सारे असमिया वैष्णव गीतों में कृष्ण की जगह "गांधी राज" का यशगान किया जाने लगा था।

जनता के महात्मा

इन उदाहरणों के आधार पर हम देख सकते हैं कि कई जगह के लोग गांधीजी को एक तरह का मसीहा, एक ऐसा व्यक्ति मानने लगे थे जो उन्हें मुसीबतों और गरीबी से छुटकारा दिला सकता है। गांधीजी वर्गीय टकरावों की बजाय वर्गीय एकता के समर्थक थे। परंतु किसानों को लगता था कि गांधीजी जमींदारों के खिलाफ उनके संघर्ष में मदद देंगे। खेतिहर मज़दूरों को यकीन था कि गांधीजी उन्हें ज़मीन दिला देंगे। कई बार आम लोगों ने खुद अपनी उपलब्धियों के लिए भी गांधीजी को श्रेय दिया। उदाहरण के लिए, एक शक्तिशाली आंदोलन के बाद संयुक्त प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) स्थित प्रतापगढ़ के किसानों ने पट्टेदारों की गैर-कानूनी बेदखली को रुकवाने में सफलता पा ली थी परंतु उन्हें लगता था कि यह सफलता उन्हें गांधीजी की वजह से मिली है। कई बार गांधीजी का नाम लेकर आदिवासियों और किसानों ने ऐसी कार्रवाइयाँ भी कीं जो गांधीवादी आदर्शों के अनुरूप नहीं थीं।

चित्र 8 – महात्मा गांधी की जनता से उपजी एक छवि।

जनता से उपजी छवियों में भी महात्मा गांधी को अकसर एक दैवी शक्ति के रूप में दिखाया जाता रहा था। इस तसवीर में वह कृष्ण के सारथी बने हैं। मार्गदर्शन कर रहे हैं। वह अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ युद्ध में अन्य राष्ट्रवादी नेताओं का मार्गदर्शन कर रहे हैं।

स्रोत 4

"वही थे जिन्होंने प्रतापगढ़ में बेदखली रुकवाई थी"

इलाहाबाद ज़िले में किसान आंदोलन पर सीआईडी द्वारा तैयार की गई जनवरी 1921 की रिपोर्ट का एक अंश इस प्रकार था :

> दूर-दराज़ के गाँवों में भी गांधीजी के नाम का सिक्का जितना चलने लगा है, उसे देखकर अचंभा होता है। किसी को भी पता नहीं है कि वह कौन हैं या क्या हैं? फिर भी सबने मान लिया है कि वे जो कहते हैं वह सही है और उनका जो भी आदेश है वह पूरा होना चाहिए। वह एक महात्मा या साधु, एक पंडित, इलाहाबाद के एक ब्राह्मण, यहाँ तक कि एक देवता हैं... उनके नाम की असली ताकत का अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि प्रतापगढ़ के लोग मानते हैं कि उन्होंने ही बेदखली रुकवाई थी... आमतौर पर गांधीजी को लोग सरकार का विरोधी नहीं मानते बल्कि केवल ज़मींदारों का विरोधी मानते हैं... हम गांधीजी और सरकार के पक्ष में हैं।

गतिविधि

स्रोत 4 को पढ़ें।
इस रिपोर्ट के मुताबिक लोग महात्मा गांधी को किस तरह देखते थे। आपकी राय में लोग ऐसा क्यों सोचते थे कि गांधीजी ज़मींदारों के विरोधी हैं परंतु सरकार के विरोधी नहीं हैं। आपकी राय में लोग गांधीजी के अनुयायी क्यों थे?

1922-1929 की घटनाएँ

महात्मा गांधी हिंसक आंदोलनों के विरुद्ध थे। इसी कारण फरवरी 1922 में जब किसानों की एक भीड़ ने चौरी-चौरा पुलिस थाने पर हमला कर उसे जला दिया तो गांधीजी ने अचानक अहसयोग आंदोलन वापस ले लिया। उस दिन 22 पुलिस वाले मारे गये। किसान इसलिए बेकाबू हो गए थे क्योंकि पुलिस ने उनके शांतिपूर्ण जुलूस पर गोली चला दी थी।

असहयोग आंदोलन खत्म होने के बाद गांधीजी के अनुयायी ग्रामीण इलाकों में रचनात्मक कार्य शुरू करने पर ज़ोर देने लगे। चितरंजन दास और मोतीलाल नेहरू जैसे अन्य नेताओं की दलील थी कि पार्टी को परिषद चुनावों में हिस्सा लेना चाहिए और परिषदों के माध्यम से सरकारी नीतियों को प्रभावित करना चाहिए। बीस के दशक के मध्य में गाँवों में किए गए व्यापक सामाजिक कार्यों की बदौलत गांधीवादियों को अपना जनाधार फैलाने में काफी मदद मिली। 1930 में शुरू किए गए सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिए यह जनाधार काफी उपयोगी साबित हुआ।

चित्र 9 - चितरंजन दास।

स्वतंत्रता आंदोलन में चितरंजन दास एक मुख्य नेता थे। वह पूर्वी बंगाल में वकील थे। अहसयोग आंदोलन में वह काफी सक्रिय रहे।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और हिंदुओं के संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) की स्थापना बीस के दशक के मध्य की दो महत्वपूर्ण घटनाएँ थीं। भारत के भविष्य को लेकर इन पार्टियों की सोच में गहरा फ़र्क रहा है। अपने अध्यापकों की सहायता से उनके विचारों के बारे में पता लगाएँ। उसी दौरान क्रांतिकारी राष्ट्रवादी भगत सिंह भी सक्रिय थे। इस दशक के आखिर

चित्र 10 – साइमन कमीशन का विरोध करते आंदोलनकारी।

1927 में इंग्लैंड में बैठी ब्रिटिश सरकार ने लॉर्ड साइमन की अगुवाई में एक आयोग भारत भेजा। इस आयोग को भारत के राजनीतिक भविष्य का फैसला करना था। इस आयोग में कोई भारतीय प्रतिनिधि नहीं था। इस फैसले की वजह से भारत में भारी असंतोष पैदा हुआ। सभी राजनीतिक संगठनों ने भी आयोग के बहिष्कार का फैसला लिया। जब कमीशन के सदस्य भारत पहुँचे तो प्रदर्शनों के साथ उनका स्वागत किया गया। प्रदर्शनकारियों का नारा था, "साइमन वापस जाओ"।

में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज का प्रस्ताव पारित किया। जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में 1929 में पारित किए गए इस प्रस्ताव के आधार पर 26 जनवरी 1930 को पूरे देश में "स्वतंत्रता दिवस" मनाया गया।

चित्र 11 – भगत सिंह।

"बहरे कानों को सुनाने के लिए धमाके की ज़रूरत होती है।
इंक़लाब ज़िंदाबाद!"

भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद, सुखदेव और उनके जैसे अन्य क्रांतिकारी राष्ट्रवादी औपनिवेशिक शासन तथा अमीर शोषक वर्गों से लड़ने के लिए मज़दूरों और किसानों की क्रांति चाहते थे। इस काम को पूरा करने के लिए उन्होंने 1928 में दिल्ली स्थित फिरोजशाह कोटला में हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (एचएसआरए) की स्थापना की थी। 17 दिसंबर, 1928 को भगत सिंह, चंद्रशेखर आजाद एवं राजगुरु ने लाला लाजपत राय पर लाठीचार्ज करने वाले सांडर्स नामक पुलिस अफसर की हत्या की थी। इसी लाठीचार्ज के कारण बाद में लाजपत राय की मृत्यु हो गई थी।

अपने साथी राष्ट्रवादी बी.के. दत्त के साथ भगत सिंह ने 8 अप्रैल 1929 को केन्द्रीय विधान परिषद में बम फेंका था। क्रांतिकारियों ने अपने पर्चे में कहा था कि उनका मकसद किसी की जान लेना नहीं बल्कि "बहरों को सुनाना है" तथा विदेशी सरकार को उसके द्वारा किए जा रहे भयानक शोषण से अवगत कराना है। भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को 23 मार्च, 1931 को फाँसी पर चढ़ा दिया गया। उस समय भगत सिंह की आयु सिर्फ 23 साल थी।

दांडी मार्च

पूर्ण स्वराज अपने आप आने वाला नहीं था। इसके लिए लोगों को लड़ाई में उतरना था। 1930 में गांधीजी ने ऐलान किया कि वह नमक कानून तोड़ने के लिए यात्रा निकालेंगे। उस समय नमक के उत्पादन और बिक्री पर सरकार का एकाधिकार होता था। महात्मा गांधी और अन्य राष्ट्रवादियों का कहना था कि नमक पर टैक्स वसूलना पाप है क्योंकि यह हमारे भोजन का एक बुनियादी हिस्सा होता है। नमक सत्याग्रह ने स्वतंत्रता की व्यापक चाह को लोगों की एक खास शिकायत *सभी* से जोड़ दिया था और इस तरह अमीरों और गरीबों के बीच मतभेद पैदा नहीं होने दिया।

गांधीजी और उनके अनुयायी साबरमती से 240 किलोमीटर दूर स्थित दांडी तट पैदल चलकर गए और वहाँ उन्होंने तट पर बिखरा नमक इकट्ठा करते हुए नमक कानून का सार्वजनिक रूप से उल्लंघन किया।

__चित्र 12__ – महात्मा गांधी प्राकृतिक नमक इकट्ठा करते हुए नमक कानून की अवहेलना कर रहे हैं, दांडी, 6 अप्रैल 1930.

स्वतंत्रता संघर्ष में महिलाएँ : कर्नाटक की अम्बाबाई

राष्ट्रीय आंदोलन में अलग-अलग पृष्ठभूमि वाली बहुत सारी महिलाओं ने हिस्सा लिया। युवा और वृद्ध, अकेली और विवाहित, ग्रामीण और शहरी, रूढ़िवादी और उदारवादी, सभी तरह के माहौल से आने वाली महिलाएँ आंदोलन में शामिल हुईं। स्वतंत्रता संघर्ष, महिला आंदोलन और स्वयं उनके लिए भी यह हिस्सेदारी बहुत महत्वपूर्ण थी।

अंग्रेज़ अफसरों और भारतीय राष्ट्रवादियों, दोनों को लगता था कि महिलाओं की सहभागिता ने राष्ट्रीय संघर्ष को ज़बरदस्त ताकत दी है। स्वतंत्रता आंदोलन में हिस्सेदारी के कारण महिलाएँ घरों से बाहर आने लगी थीं। इसने उन्हें विभिन्न व्यवसायों व शासन में जगह दिलाई और पुरुषों के साथ समानता का मार्ग प्रशस्त किया।

महिलाओं के लिए सहभागिता का क्या अर्थ था? इसकी सबसे अच्छी अभिव्यक्ति खुद उन्हीं के शब्दों में देखी जा सकती है। कर्नाटक की अम्बाबाई का विवाह 12 साल की उम्र में कर दिया गया था। 16 साल की उम्र में वह विधवा हो गई। उन्होंने उडीपी में विदेशी कपड़ों और शराब की दुकानों की घेरेबंदी की। उन्हें गिरफ्तार किया गया और सज़ा दी गई। रिहा होने पर उन्हें दोबारा गिरफ्तार कर लिया गया। जब भी वह जेल से बाहर होतीं, सभाओं में भाषण देतीं, बुनाई-कताई सिखातीं और प्रभातफेरियों का आयोजन करतीं। अम्बाबाई इन्हें अपने जीवन के सबसे सुखद क्षण मानती थीं क्योंकि ऐसे क्षणों में उन्हें एक नया मकसद और प्रतिबद्धता दिखाई देती थी।

आंदोलन में हिस्सेदारी के अपने अधिकार को मनवाने के लिए महिलाओं को काफी जद्दोजहद करनी पड़ती थी। उदाहरण के लिए, नमक सत्याग्रह के दौरान शुरुआत में खुद महात्मा गांधी भी महिलाओं की हिस्सेदारी के समर्थन में नहीं थे। आखिरकार सरोजिनी नायडू ने उन्हें इस बात के लिए तैयार किया कि वे महिलाओं को भी आंदोलन में शामिल होने दें।

2018-19

चित्र 13 – महात्मा गांधी के साथ सरोजिनी नायडू, पेरिस, 1931

1920 के दशक की शुरुआत से ही राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय सरोजिनी नायडू दांडी यात्रा के मुख्य नेताओं में से एक थीं। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर पहुँचने वाली वह पहली महिला थीं (1925)।

उन्होंने पानी उबालकर भी नमक बनाया। इस आंदोलन में किसानों, आदिवासियों और महिलाओं ने बड़ी संख्या में हिस्सा लिया। नमक के मुद्दे पर एक व्यावसायिक संघ ने पर्चा प्रकाशित किया। सरकार ने शांतिपूर्ण सत्याग्रहियों के निर्मम दमन के ज़रिए आंदोलन को कुचलने का प्रयास किया। हज़ारों आंदोलनकारियों को जेल में डाल दिया गया।

भारतीय जनता के साझा संघर्षों के चलते आखिरकार 1935 के गवर्मेंट ऑफ इंडिया एक्ट में **प्रांतीय स्वायत्तता** का प्रावधान किया गया। सरकार ने ऐलान किया कि 1937 में प्रांतीय विधायिकाओं के लिए चुनाव कराए जाएँगे। इन चुनावों के परिणाम आने पर 11 में से 7 प्रांतों में कांग्रेस की सरकार बनी।

प्रांतीय स्तर पर 2 साल के कांग्रेसी शासन के बाद सितंबर 1939 में दूसरा विश्व युद्ध छिड़ गया। हिटलर के प्रति आलोचनात्मक रवैये के कारण कांग्रेस के नेता ब्रिटेन के युद्ध प्रयासों में मदद देने को तैयार थे। इसके बदले में वे चाहते थे कि युद्ध के बाद भारत को स्वतंत्र कर दिया जाए। अंग्रेज़ों ने यह बात नहीं मानी। कांग्रेसी सरकारों ने विरोध में इस्तीफा दे दिया।

स्रोत 5

वीर लखन नायक को फाँसी दे दी गई

तीस के दशक में नबरंगपुर कांग्रेस, उड़ीसा के अध्यक्ष, बाजी मुहम्मद लिखते हैं :

> 25 अगस्त 1942 को... 19 लोग नबरंगपुर स्थित पपरंदी में हुई पुलिस फायरिंग में मौके पर ही मारे गए। बहुत सारे लोग बाद में घावों के कारण मर गए। 300 से ज्यादा घायल हुए। 1000 से ज्यादा को कोरापुट ज़िले की जेल में डाल दिया गया। कई को गोली मार दी गई या फाँसी पर लटका दिया गया। वीर लखन नायक (अंग्रेज़ों की अवहेलना करने वाले एक विख्यात जनजातीय नेता) को भी फाँसी पर लटका दिया गया।

बाजी हमें बतातें हैं कि लखन नायक अपनी फाँसी के बारे में चिंतित नहीं थे बल्कि उन्हें केवल इस बात का दुख था कि वे स्वतंत्रता का प्रभात नहीं देख पाएँगे।

बाजी मुहम्मद ने राष्ट्रीय संघर्ष में शामिल होने के लिए 20,000 लोगों को लामबंद किया था। उन्होंने कई बार सत्याग्रह किया। उन्होंने दूसरे विश्व युद्ध के ख़िलाफ़ हुए विरोध और भारत छोड़ो आंदोलन में हिस्सा लिया तथा कई बार लंबे समय तक जेल में रहे।

प्रांतीय स्वायत्तता – संघ के भीतर रहते प्रांतों को तुलनात्मक रूप से स्वतंत्र निर्णय लेने की क्षमता देना।

चित्र 14 – भारत छोड़ो आंदोलन, अगस्त 1942

प्रदर्शनकारी हर जगह पुलिस से लोहा ले रहे थे। हज़ारों लोग गिरफ्तार हुए, हज़ार से ज्यादा मारे गए और असंख्य लोग घायल हुए।

भारत छोड़ो और उसके बाद

महात्मा गांधी ने दूसरे विश्व युद्ध के बाद अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ आंदोलन का एक नया चरण शुरू किया। उन्होंने अंग्रेज़ों को चेतावनी दी कि वे फौरन भारत छोड़ दें। गांधीजी ने भारतीय जनता से आह्वान किया कि वे "करो या मरो" के सिद्धांत पर चलते हुए अंग्रेज़ों के विरुद्ध अहिंसक ढंग से संघर्ष करें। गांधीजी और अन्य नेताओं को फौरन जेल में डाल दिया गया। इसके बावजूद यह आंदोलन फैलता गया। किसान और युवा इस आंदोलन में बड़ी संख्या में शामिल हुए। विद्यार्थी अपनी पढ़ाई-लिखाई छोड़ कर आंदोलन में कूद पड़े। देश भर में संचार तथा राजसत्ता के प्रतीकों पर हमले हुए। बहुत सारे इलाकों में लोगों ने अपनी सरकार का गठन कर लिया।

सबसे पहले अंग्रेज़ों ने बर्बर दमन का रास्ता अपनाया। 1943 के अंत तक 90,000 से ज़्यादा लोग गिरफ्तार कर लिए गए थे और लगभग 1,000 लोग पुलिस की गोली से मारे गए थे। बहुत सारे इलाकों में हवाई जहाज़ों से भी भीड़ पर गोलियाँ बरसाने के आदेश दिए गए। परंतु आखिरकार इस विद्रोह ने ब्रिटिश राज को घुटने टेकने के लिए मजबूर कर दिया।

स्वतंत्रता और विभाजन की ओर

1940 में मुसलिम लीग ने देश के पश्चिमोत्तर तथा पूर्वी क्षेत्रों में मुसलमानों के लिए "स्वतंत्र राज्यों" की माँग करते हुए एक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में विभाजन या पाकिस्तान का ज़िक्र नहीं था। मुसलिम लीग ने उपमहाद्वीप के मुसलमानों के लिए स्वायत्त व्यवस्था की माँग क्यों की थी?

1930 के दशक के आखिरी सालों से लीग मुसलमानों और हिंदुओं को अलग-अलग "राष्ट्र" मानने लगी थी। इस विचार तक पहुँचने में बीस और तीस के दशकों में हिंदुओं और मुसलमानों के कुछ संगठनों के बीच हुए

बोस और आईएनए

चित्र 15 – सुभाषचंद्र बोस।

समाजवादी विचार रखने वाले आमूल परिवर्तनवादी राष्ट्रवादी सुभाषचंद्र बोस अहिंसा के गांधीवादी आदर्शों में विश्वास नहीं रखते थे हालांकि "राष्ट्रपिता" के रूप में गांधीजी का सम्मान करते थे। जनवरी 1941 में उन्होंने बिना किसी को बताए कलकत्ता छोड़ दिया और जर्मनी के रास्ते होते हुए सिंगापुर पहुँच गए। भारत को अंग्रेज़ों के नियंत्रण से मुक्त कराने के लिए उन्होंने वहाँ आज़ाद हिंद फौज (इंडियन नैशनल आर्मी-आईएनए) का गठन किया। 1944 में आज़ाद हिंद फौज ने इम्फाल और कोहिमा की ओर से भारत में प्रवेश करने का प्रयास किया परंतु यह अभियान सफल नहीं हो पाया। आईएनए के सदस्यों को कैद कर लिया गया और उन पर मुकदमे चलाए गए। देश भर में तमाम तरह के लोगों ने आज़ाद हिंद फौज के सिपाहियों पर चलाए गए मुकदमों के खिलाफ चले संघर्षों में हिस्सा लिया।

चित्र 16 – मौलाना आज़ाद तथा कांग्रेस कार्यकारी समिति के अन्य सदस्य, सेवाग्राम, 1942

मौलाना आज़ाद का जन्म मक्का में हुआ था। उनके पिता बंगाली और माँ अरब मूल की थीं। बहुत सारी भाषाओं के जानकार आज़ाद इस्लाम के विद्वान और वहादते-दीन यानी सभी धर्मों की बुनियादी एकता के हिमायती थे। गांधीवादी आंदोलनों में हमेशा सक्रिय रहने वाले और हिंदू-मुसलिम एकता के पक्के हिमायती थे। उन्होंने जिन्ना के दो-राष्ट्र सिद्धांत का विरोध किया था।

चित्र 17 – गांधी-जिन्ना वार्ताओं से पहले गांधीजी के साथ बात करते चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, 1944

वयोवृद्ध राष्ट्रवादी और दक्षिण में नमक सत्याग्रह के नेता सी. राजगोपालाचारी 1946 में बनी अंतरिम सरकार के सदस्य थे और स्वतंत्र भारत के पहले भारतीय गवर्नर जनरल रहे। उन्हें लोग राजाजी के नाम से जानते थे।
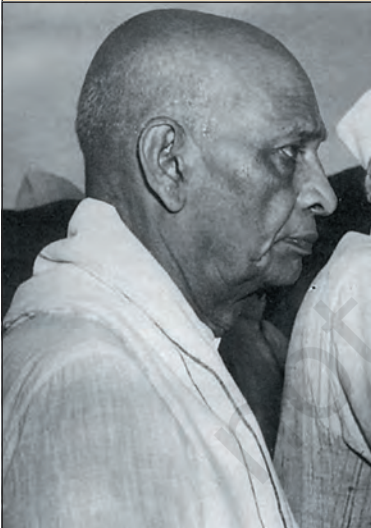
चित्र 18 – सरदार वल्लभ भाई पटेल ने 1945-47 के दौरान आज़ादी के लिए चली वार्ताओं में एक अहम भूमिका अदा की थी।

पटेल नादियाड़, गुजरात के एक गरीब किसान-व्यवसायी परिवार से थे।
1918 के बाद स्वतंत्रता आंदोलन की अगली कतार में रहने वाले पटेल 1931 में कांग्रेस के अध्यक्ष भी रहे।

चित्र 19 – महात्मा गांधी के साथ मोहम्मद अली जिन्ना, सितंबर 1944

1920 तक हिंदू-मुसलिम एकता के समर्थन में सक्रिय रहे जिन्ना ने लखनऊ समझौता करवाने में एक अहम भूमिका अदा की थी। 1934 के बाद उन्होंने मुसलिम लीग को पुनर्जीवित किया और अंत में वे पाकिस्तान की स्थापना के सबसे मुख्य प्रवक्ताओं की कतार में जा पहुँचे।

चित्र 20 – जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के बम्बई अधिवेशन से पहले महात्मा गांधी से बात कर रहे हैं, जुलाई 1946

गांधीजी के शिष्य, कांग्रेस समाजवादी और अंतर्राष्ट्रीयतावादी विचार रखने वाले नेहरू राष्ट्रीय आंदोलन तथा स्वतंत्र भारत की आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था के मुख्य शिल्पियों में से थे।

"सामान्य" निर्वाचन क्षेत्र – ऐसे निर्वाचन क्षेत्र जहाँ किसी धार्मिक तथा अन्य सम्प्रदाय के लिए कोई आरक्षण नहीं था।

तनावों का भी हाथ रहा होगा। 1937 के प्रांतीय चुनाव संभवत: इससे भी ज़्यादा बड़ा कारण रहे। इन चुनावों ने मुसलिम लीग को इस बात का यकीन दिला दिया था कि यहाँ मुसलमान अल्पसंख्यक हैं और किसी भी लोकतांत्रिक संरचना में उन्हें हमेशा गौण भूमिका निभानी पड़ेगी। लीग को यह भी भय था कि संभव है कि मुसलमानों को प्रतिनिधित्व ही न मिल पाए। 1937 में मुसलिम लीग संयुक्त प्रांत में कांग्रेस के साथ मिलकर सरकार बनना चाहती थी परंतु कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया जिससे फासला और बढ़ गया।

तीस के दशक में मुसलिम जनता को अपने साथ लामबंद करने में कांग्रेस की विफलता ने भी लीग को अपना सामाजिक जनाधार फैलाने में मदद दी। चालीस के दशक के शुरुआती सालों में जिस समय कांग्रेस के ज़्यादातर नेता जेल में थे, उस समय लीग ने अपना प्रभाव फैलाने के लिए तेज़ी से प्रयास किए। 1945 में विश्व युद्ध खत्म होने के बाद अंग्रेज़ों ने भारतीय स्वतंत्रता के लिए कांग्रेस और लीग से बातचीत शुरू कर दी। यह वार्ता असफल रही क्योंकि लीग का कहना था कि उसे भारतीय मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि माना जाए। कांग्रेस इस दावे को मंज़ूर नहीं कर सकती थी क्योंकि बहुत सारे मुसलमान अभी भी उसके साथ थे।

1946 में दोबारा प्रांतीय चुनाव हुए। **"सामान्य" निर्वाचन क्षेत्रों** में कांग्रेस का प्रदर्शन तो अच्छा रहा परंतु मुसलमानों के लिए आरक्षित सीटों पर लीग को बेजोड़ सफलता मिली। लीग "पाकिस्तान" की माँग पर चलती रही। मार्च 1946 में ब्रिटिश सरकार ने इस माँग का अध्ययन करने और स्वतंत्र भारत के लिए एक सही राजनीतिक बंदोबस्त सुझाने के लिए तीन सदस्यीय परिसंघ भारत भेजा। इस परिसंघ ने सुझाव दिया कि भारत अविभाजित रहे और उसे मुसलिम बहुल क्षेत्रों को कुछ स्वायत्तता देते हुए एक ढीले-ढाले महासंघ के रूप में संगठित किया जाए। कांग्रेस और मुसलिम लीग, दोनों ही इस प्रस्ताव के कुछ खास प्रावधानों पर सहमत नहीं थे। अब देश का विभाजन अवश्यंभावी था।
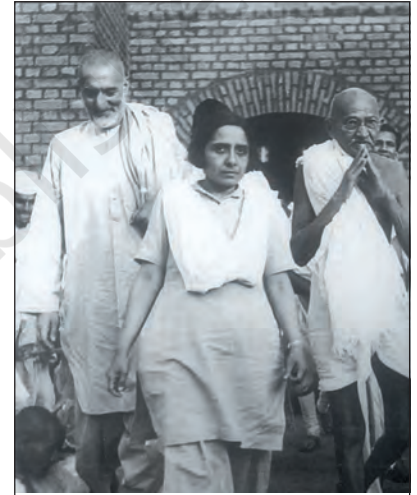
चित्र 21 – ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ान उत्तर-पश्चिमी सीमांत प्रांत के प्रमुख पश्तून नेताओं में से एक थे। इस चित्र में अपने सहयोगियों के साथ बिहार में एक शांति यात्रा में हिस्सा ले रहे हैं, मार्च 1947.

ग़फ़्फ़ार खान को बादशाह ख़ान के नाम से भी जाना जाता है। वह खुदाई खिदमतगार संगठन के संस्थापक थे। यह उनके प्रांत के पठानों में लोकप्रिय शक्तिशाली अहिंसक आंदोलन था। बादशाह ख़ान भारत विभाजन के सख्त ख़िलाफ थे। उन्होंने 1947 में इस फैसले पर मंज़ूरी देने के लिए कांग्रेस के अपने साथियों की भर्त्सना की थी।

चित्र 22 – हिंसाग्रस्त पंजाब से आए शरणार्थी आश्रय और भोजन की तलाश में दिल्ली में इकट्ठा हो रहे हैं।

कैबिनेट मिशन की इस विफलता के बाद मुसलिम लीग ने पाकिस्तान की अपनी माँग मनवाने के लिए जनांदोलन शुरू करने का फैसला लिया। उसने 16 अगस्त 1946 को "प्रत्यक्ष कार्रवाई दिवस" मनाने का आह्वान किया। इसी दिन कलकत्ता में दंगे भड़क उठे जो कई दिन चलते रहे। इन दंगों में हज़ारों लोग मारे गए। मार्च 1947 तक उत्तर भारत के विभिन्न भागों में भी हिंसा फैल गई थी।

कई लाख लोग मारे गए। असंख्य महिलाओं को विभाजन की इस हिंसा में अकथनीय अत्याचारों का सामना करना पड़ा। करोड़ों लोगों को अपने घर-बार छोड़कर भागना पड़ा। अपने मूल स्थानों से बिछड़कर ये लोग रातोंरात अजनबी ज़मीन पर शरणार्थी बनकर रह गए। विभाजन का नतीजा यह भी हुआ कि भारत की शक्ल-सूरत बदल गई, उसके शहरों का माहौल बदल गया और एक नए देश – पाकिस्तान – का जन्म हुआ। इस तरह ब्रिटिश शासन से स्वतंत्रता का यह आनंद विभाजन की पीड़ा और हिंसा के साथ हमारे सामने आया।

अन्यत्र

अफ्रीका में राष्ट्रवाद : घाना का उदाहरण

उन्नीसवीं सदी के आखिर और बीसवीं सदी की शुरुआत में बहुत सारे अफ्रीकी और एशियाई देशों में राष्ट्रवाद का उदय हुआ। इनमें से बहुत सारे देशों में राष्ट्रवाद का उदय स्वतंत्रता के लिए उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों के तहत हुआ था।

अफ्रीका में औपनिवेशिक शासन तानाशाही जैसा था। विदेशी शासकों के प्रतिनिधि के रूप में केवल "मुखियाओं" को ही शासन चलाने की छूट दी जाती थी। या फिर अफ्रीकियों के बारे में केवल गोरे प्रतिनिधियों वाली सभाएँ कानून बनाती थीं। कम से कम दूसरे विश्व युद्ध के बाद तक अफ्रीकियों के पास निर्णय लेने या प्रतिनिधित्व की ताकत नहीं थी। स्थानीय भूस्वामियों या किसानों से ज़मीन का ज़बरन अधिग्रहण, करों में वृद्धि और खराब कार्यपरिस्थितियों की वजह से बहुत सारे अफ्रीकी आंदोलन शुरू हुए।

1957 में घाना स्वतंत्रता पाने वाला उप-सहारा अफ्रीका का पहला देश बना। इससे पहले उसे गोल्ड कोस्ट के नाम से जाना जाता था। यहाँ स्वतंत्रता आंदोलन का नेतृत्व कुआमे नकरूमा की कन्वेंशन पीपुल्स पार्टी कर रही थी। घाना की जनता ने स्वतंत्रता के लिए हड़ताल, बहिष्कार और जनांदोलनों का रास्ता अपनाया था। 1951 में कन्वेंशन पीपुल्स पार्टी को चुनावों में ज़बर्दस्त सफलता मिली थी। इस पार्टी ने उस प्रणाली का विरोध किया जिसमें ब्रिटिश शासकों ने मुखियाओं को विधान सभाओं में अपने प्रतिनिधियों को भेजने का अधिकार दिया हुआ था। इस पार्टी ने अंग्रेज़ों पर दबाव डाला कि वे ऐसी विधानसभा बनाएँ जिसमें कोई मनोनीत या विशेष सदस्य न हों। 1954 में इस माँग को मान लिया गया। 1956 में नई विधान परिषद के लिए चुनाव हुए। कन्वेंशन पीपुल्स पार्टी ने इन चुनावों में सफलता पाई और इस तरह "घाना" के नाम से एक नवस्वाधीन राष्ट्र के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया।

फिर से याद करें

1. 1870 और 1880 के दशकों में लोग ब्रिटिश शासन से क्यों असंतुष्ट थे?
2. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस किन लोगों के पक्ष मे बोल रही थी?
3. पहले विश्व युद्ध से भारत पर कौन से आर्थिक असर पड़े?
4. 1940 के मुसलिम लीग के प्रस्ताव में क्या माँग की गई थी?

आइए विचार करें

5. मध्यमार्गी कौन थे? वे ब्रिटिश शासन के खिलाफ किस तरह का संघर्ष करना चाहते थे?
6. कांग्रेस में आमूल परिवर्तनवादी की राजनीति मध्यमार्गी की राजनीति से किस तरह भिन्न थी?
7. चर्चा करें कि भारत के विभिन्न भागों में असहयोग आंदोलन ने किस-किस तरह के रूप ग्रहण किए? लोग गांधीजी के बारे में क्या समझते थे?
8. गांधीजी ने नमक कानून तोड़ने का फैसला क्यों लिया?
9. 1937-47 की उन घटनाओं पर चर्चा करें जिनके फलस्वरूप पाकिस्तान का जन्म हुआ?

आइए करके देखें

10. पता लगाएं कि आपके शहर, ज़िले, इलाके या राज्य में राष्ट्रीय आंदोलन किस तरह आयोजित किया गया। किन लोगों ने उसमें हिस्सा लिया और किन लोगों ने उसका नेतृत्व किया? आपके इलाके में आंदोलन को कौन सी सफलताएँ मिलीं?
11. राष्ट्रीय आंदोलन के किन्हीं दो सहभागियों या नेताओं के जीवन और कृतित्व के बारे में और पता लगाएँ तथा उनके बारे में एक संक्षिप्त निबंध लिखें। आप किसी ऐसे व्यक्ति को भी चुन सकते हैं जिसका इस अध्याय में ज़िक्र नहीं आया है।

आइए कल्पना करें

मान लीजिए कि आप भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में सक्रिय हैं। इस अध्याय को पढ़ने के बाद संक्षेप में बताइए कि आप संघर्ष के लिए कौन से तरीके अपनाते और आप किस तरह का स्वतंत्र भारत रचते?

12 स्वतंत्रता के बाद

एक नया और खंडित राष्ट्र

अगस्त 1947 में जब भारत आज़ाद हुआ तो उसके सामने कई बड़ी चुनौतियाँ थीं। बँटवारे की वजह से 80 लाख शरणार्थी पाकिस्तान से भारत आ गए थे। इन लोगों के लिए रहने का इंतजाम करना और उन्हें रोज़गार देना ज़रूरी था। इसके बाद रियासतों की समस्या थी। तकरीबन 500 रियासतें राजाओं या नवाबों के शासन में चल रही थीं। इन सभी को नए राष्ट्र में शामिल होने के लिए तैयार करना एक टेढ़ा काम था। शरणार्थियों और रियासतों की समस्या पर फौरन ध्यान देना लाज़िमी था। लंबे दौर में इस नवजात राष्ट्र को एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था भी विकसित करनी थी जो यहाँ के लोगों की आशाओं और आकांक्षाओं को सबसे अच्छी तरह व्यक्त कर सके।
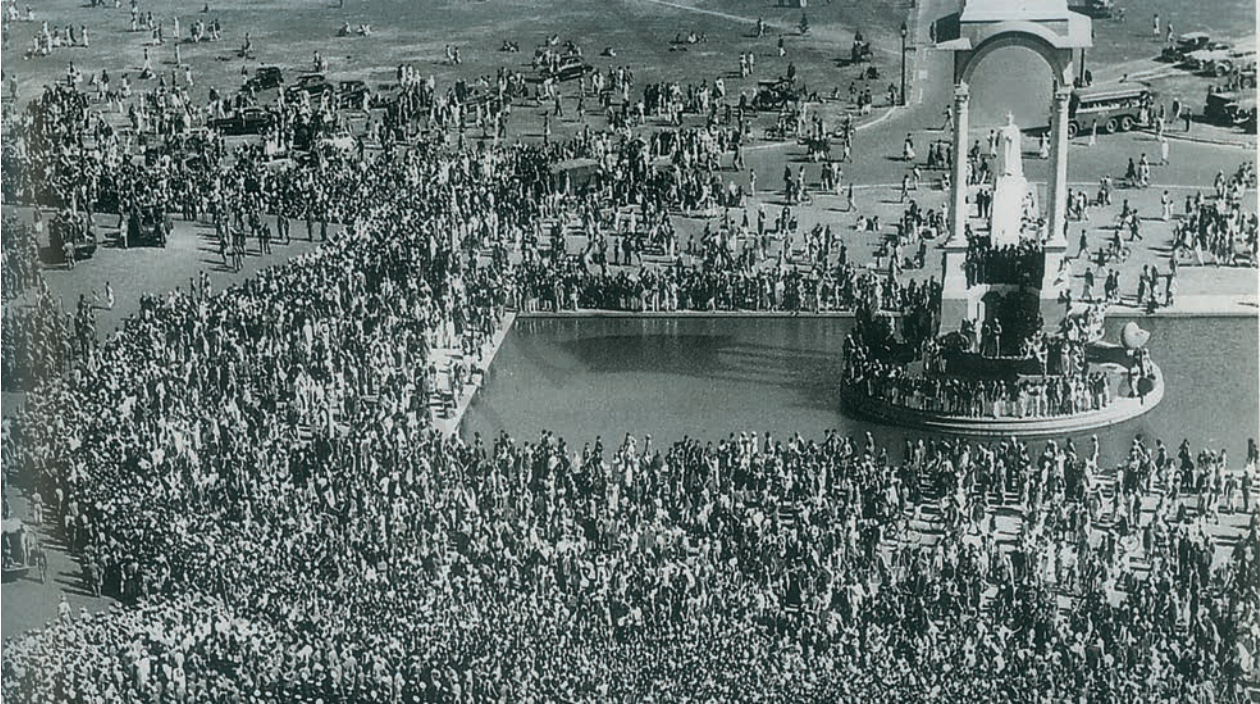
चित्र 1 *– इलाहाबाद में महात्मा गांधी की अस्थियों का विर्सजन, फरवरी 1948*

अभी स्वतंत्रता को छ: महीने भी नहीं हुये थे कि सारा राष्ट्र गहरे शोक में पड़ गया। 30 जनवरी 1948 को कट्टर विचारों वाले नाथूराम गोडसे ने महात्मा गांधी की हत्या कर दी। वह गांधीजी के इस दृढ़ विश्वास से मतभेद रखता था कि हिन्दुओं और मुसलमानों को सदभावना बनाते हुये इकट्ठे रहना चाहिए। उसी शाम हक्के-बक्के राष्ट्र ने आकाशवाणी पर जवाहरलाल नेहरू का भावुक भाषण सुना "दोस्तो, साथियो, हमारी ज़िंदगी की रोशनी बुझ गई और चारों तरफ अँधेरा है... हमारे प्रिय नेता... राष्ट्रपिता अब नहीं रहे।"

1947 में भारत की आबादी काफी बड़ी थी – तकरीबन 34.5 करोड़। यह आबादी भी आपस में बँटी हुई थी। इसमें ऊँची जाति और नीची जाति, बहुल हिंदू समुदाय और अन्य धर्मों को मानने वाले भारतीय थे। इस विशाल देश के लोग तरह-तरह की भाषाएँ बोलते थे, उनके पहनावों में भारी फ़र्क था, उनके खान-पान और काम-धंधों में भारी विविधता थी। इतनी विविधता वाले लोगों को एक राष्ट्र-राज्य के रूप में कैसे संगठित किया जा सकता था?

एकता की समस्या के साथ ही विकास भी एक बड़ी समस्या थी। स्वतंत्रता के समय भारत की एक विशाल संख्या गाँवों में रहती थी। आजीविका के लिए किसान और काश्तकार बारिश पर निर्भर रहते थे। यही स्थिति अर्थव्यवस्था के गैर-कृषि क्षेत्रों की थी। अगर फसल चौपट हो जाती तो नाई, बढ़ई, बुनकर और अन्य कारीगरों की आमदनी पर भी संकट पैदा हो जाता था। शहरों में फैक्ट्री मज़दूर भीड़ भरी झुग्गी बस्तियों में रहते थे जहाँ शिक्षा या स्वास्थ्य सुविधाओं की खास व्यवस्था नहीं थी। इस विशाल आबादी को गरीबी के चंगुल से निकालने के लिए न केवल खेती की उपज बढ़ाना ज़रूरी था बल्कि नए उद्योगों का निर्माण भी करना था जहाँ लोगों को रोज़गार मिल सके।

एकता और विकास की प्रक्रियाओं को साथ-साथ चलना था। अगर भारत के विभिन्न तबकों के बीच मौजूद मतभेदों को दूर न किया जाता तो वे हिंसक और बहुत खतरनाक टकरावों का रूप ले सकते थे। लिहाज़ा ऐसे टकराव देश के लिए मँहगे भी पड़ते थे। कहीं ऊँची जाति और नीची जाति के बीच, कहीं हिंदुओं और मुसलमानों के बीच तो कहीं किसी और वजह से तनाव की आशंका बनी हुई थी। दूसरी तरफ, अगर आर्थिक विकास के लाभ आबादी के बड़े हिस्से को नहीं मिलते हैं तो और ज़्यादा भेदभाव पैदा हो सकता था। ऐसी स्थिति में अमीर और गरीब, शहर और देहात, संपन्न और पिछड़े इलाकों का फ़र्क पैदा हो सकता था।

गतिविधि

कल्पना कीजिए कि आप 1947 में भारत से जाने वाले एक ब्रिटिश अफसर हैं। उसी समय आप अपने घर वालों के नाम खत लिखते हैं जिसमें आप इस बात की चर्चा कर रहे हैं कि अंग्रेज़ों की अनुपस्थिति में भारत का क्या होगा। भारत के भविष्य के बारे में आपकी क्या राय होगी?

नए संविधान की रचना

दिसंबर 1946 से नवंबर 1949 के बीच तकरीबन 300 भारतीयों ने देश के राजनीतिक भविष्य के बारे में लंबा विचार-विमर्श किया। यद्यपि इस "संविधान सभा" की बैठकें नई दिल्ली में आयोजित की गई थीं परंतु इसके सदस्य पूरे देश में फैले हुए थे और वे बहुत सारी राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधि थे। इन्हीं चर्चाओं के फलस्वरूप भारत का संविधान लिखा गया जिसे 26 जनवरी 1950 को लागू किया गया।

हमारे संविधान की एक खासियत यह थी कि उसमें **सार्वभौमिक वयस्क** मताधिकार का प्रावधान किया गया था। इसका मतलब यह था कि 21 साल से ज़्यादा उम्र के सभी भारतीयों को प्रांतीय और राष्ट्रीय चुनावों में वोट देने का अधिकार था। यह एक क्रांतिकारी कदम था। इससे पहले कभी भी भारतीयों को खुद अपने नेता चुनने का अधिकार नहीं मिला था। ब्रिटेन और अमरीका जैसे अन्य देशों की जनता को यह अधिकार टुकड़ों-टुकड़ों में

सार्वभौमिक वयस्क– सभी वयस्क नागरिकों को मत देने का अधिकार

चित्र 2 – संविधान के उद्देश्यों पर रोशनी डालने वाले प्रस्ताव को पढ़ते हुए जवाहरलाल नेहरू।

ही दिया गया था। वहाँ सबसे पहले संपन्न पुरुषों को वोट देने का अधिकार मिला। इसके बाद शिक्षित पुरुषों को भी मताधिकार दिया गया। मज़दूर पुरुषों को काफी लंबे संघर्ष के बाद यह अधिकार मिला। महिलाओं को सबसे अंत में मताधिकार दिया गया – वह भी लंबे जुझारू संघर्ष के बाद। इसके विपरीत, भारत में आज़ादी के कुछ ही समय बाद ये फैसला ले लिया गया था कि देश के सभी स्त्री-पुरुषों को यह अधिकार दिया जाएगा भले ही वे अमीर हों या गरीब, पढ़े-लिखे हों या अनपढ़ हों।

संविधान की दूसरी विशेषता यह थी कि उसमें तमाम जातियों, धर्मों या किसी भी तरह की पृष्ठभूमि से संबंध रखने वाले सभी नागरिकों को कानून की नज़र में समान माना गया। भारत के कुछ लोग चाहते थे कि भारत की राजनीतिक व्यवस्था हिंदू आदर्शों पर आधारित हो और भारत को एक हिंदू देश घोषित किया जाए। अपनी बात के समर्थन में उन्होंने पाकिस्तान का उदाहरण दिया जिसका गठन ही एक खास समुदाय – मुसलमानों – के हितों की रक्षा के लिए किया गया था। परंतु भारतीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का स्पष्ट मत था कि भारत "हिंदू पाकिस्तान" नहीं बन सकता और न ही बनना चाहिए।

मुसलमानों के अलावा भारत में सिख और ईसाइयों की भी बड़ी संख्या थी। इसके अलावा पारसी, जैन तथा अन्य धर्मों के लोग भी थे। नए संविधान में इन सभी समुदायों के लोगों को भी वही अधिकार दिए गए जो अधिकार हिंदुओं को दिए गए थे। चाहे सरकारी या निजी क्षेत्र की नौकरियों का सवाल हो या कानून से संबंधित कोई मामला हो, इन सभी समुदायों के लोगों को भी वैसे ही अवसर देने का प्रावधान किया गया जैसे हिंदुओं को दिए जा रहे थे।

संविधान की तीसरी विशेषता यह थी कि इसमें समाज के निर्धन और सबसे वंचित तबकों के लिए विशेष सुविधाओं की व्यवस्था की गई थी। "भारत के सम्मान" को "कलंकित" करने वाली छुआछूत के चलन को खत्म कर दिया गया। अब तक हिंदुओं के मंदिरों में केवल ऊँची जातियों के लोग ही जाते थे लेकिन अब उन्हें सभी लोगों के लिए खोल दिया गया। जिन्हें अब तक अछूत माना जाता था, अब वे भी मंदिरों में जा सकते थे। एक लंबी बहस के बाद संविधान सभा ने यह भी तय किया कि विधायिका की कुछ सीटें और सरकारी नौकरियों में कुछ हिस्सा "निचली जातियों" के सदस्यों के लिए आरक्षित किया जाए। कुछ लोगों की दलील थी कि अछूत – जिन्हें उस समय हरिजन कहा जाता था – उम्मीदवारों के पास इतने अंक या शैक्षणिक योग्यता नहीं होती कि वे भारतीय प्रशासनिक सेवा जैसी प्रतिष्ठित नौकरियों में जा सकें। परंतु, जैसा कि संविधान सभा के सदस्य एच. जे. खांडेकर ने कहा था, हरिजनों की "अक्षमता के लिए" ऊँची जातियाँ ज़िम्मेदार हैं। अपने सुविधासंपन्न सहकर्मियों को संबोधित करते हुए खांडेकर ने कहा था :

> हमें हज़ारों साल तक दबाकर रखा गया है। आप लोगों ने हमें अपनी सेवा में लगाए रखा और हमें इस कदर दबाया है कि अब न केवल हमारे मस्तिष्क और शरीर, बल्कि हमारा हृदय भी काम नहीं करता और न ही हम आगे बढ़ पाने में सक्षम हैं।

भूतपूर्व "अछूतों" के साथ-साथ आदिवासियों या अनुसूचित जनजातियों को भी विधायिका और नौकरियों में आरक्षण दिया गया। अनुसूचित जातियों की तरह इन भारतीयों को भी वंचित रखा गया था और उनके साथ भेदभाव किया गया था। आदिवासी आधुनिक स्वास्थ्य सुविधाओं और शिक्षा से वंचित थे। उनकी ज़मीन और जंगलों पर समुदाय से बाहर के ताकतवर लोगों का कब्ज़ा होता जा रहा था। संविधान से उन्हें जो नए अधिकार मिले उनका उद्देश्य इस स्थिति में सुधार लाने का था।

संविधान सभा के सदस्यों ने केंद्र और राज्य सरकारों की शक्तियों और अधिकारों के बँटवारे पर भी लंबी चर्चा की। कुछ लोगों का मानना था कि केंद्र के हित सबसे महत्त्वपूर्ण होने चाहिए। उनका कहना था कि यदि केंद्र मज़बूत होगा तो "तभी वह पूरे देश की उन्नति के लिए सोचने और योजना बनाने में सक्षम होगा।" कई अन्य सदस्यों का मानना था कि राज्यों को ज़्यादा स्वायत्तता और आज़ादी मिलनी चाहिए। मैसूर के एक सदस्य का कहना था कि मौजूदा व्यवस्था में "लोकतंत्र दिल्ली में केंद्रित है और इसलिए बाकी देश में वह इसी भावना और अर्थ में साकार नहीं हो रहा है।"

स्रोत 1

हमें उन्हें सुरक्षा और अधिकार ज़रूर देने चाहिए।

मुख्यमंत्रियों को लिखे एक पत्र में नेहरू ने कहा था :

> ...हमारे पास एक मुसलिम अल्पसंख्यक समुदाय है जो संख्या की दृष्टि से इतना बड़ा है कि अगर वे चाहें तो भी कहीं नहीं जा सकते। यह एक बुनियादी तथ्य है जिसके बारे में बहस की कोई गुंजाइश नहीं है। पाकिस्तान की तरफ से चाहे जितना उकसावा हो और वहाँ के गैर-मुसलमानों पर चाहे जो भी अत्याचार हो रहे हों, हमें इस अल्पसंख्यक समुदाय के साथ सभ्य ढंग से व्यवहार करना है। हमें इस समुदाय को भी वही सुरक्षा और अधिकार देने होंगे जो किसी लोकतांत्रिक राज्य के नागरिकों को मिलते हैं।

गतिविधि

एक मुसलिम परिवार में बाप-बेटे के बीच हो रही बातचीत की कल्पना कीजिए। बेटा मानता है कि विभाजन के बाद परिवार को पाकिस्तान चले जाना चाहिए जबकि पिता का विश्वास है कि उन्हें भारत में ही रहना चाहिए। इस अध्याय (तथा अध्याय 11) में दी गई सूचनाओं के आधार पर अभिनय करके बताएँ कि दोनों के तर्क क्या होंगे।

चित्र 3 – डॉ. बी.आर. अंबेडकर।

डॉ. बी.आर. अंबेडकर (1891–1956) को प्यार से लोग बाबासाहेब के नाम से पुकारते थे। वह एक मराठी भाषी दलित परिवार से थे। डॉ. अंबेडकर एक जाने-माने वकील और अर्थशास्त्री थे। उन्हें दलितों का एक महान नेता और भारतीय संविधान का जनक माना जाता है।

मद्रास के एक सदस्य का आग्रह था कि "राज्य स्तर पर लोगों की कुशलक्षेम का प्रारंभिक भार प्रांतीय सरकारों के ऊपर ही होना चाहिए।"

इन मतभेदों को दूर करने के लिए संविधान में विभिन्न विषयों को तीन सूचियों में बाँट दिया गया – केंद्रीय सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची। केंद्रीय सूची में कराधान, रक्षा और विदेशी मामलों आदि को रखा गया। ये ऐसे विषय थे जो केवल केंद्र सरकार के अधीन थे। राज्य सूची में शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे विषय लिए गए जिनकी ज़िम्मेदारी मुख्य रूप से राज्य सरकारों के ऊपर थी। समवर्ती सूची में वन एवं कृषि आदि ऐसे विषयों को रखा गया जिनके बारे में केंद्र और राज्य सरकारें, दोनों संयुक्त रूप से फैसला ले सकते थे।

संविधान सभा में भाषा के सवाल पर बड़ी तीखी बहस हुई। बहुत सारे लोगों का मानना था कि अंग्रेज़ों के साथ अंग्रेज़ी भाषा को भी विदा कर दिया जाना चाहिए। उनका कहना था कि अंग्रेज़ी की जगह हिंदी को अपनाया जाना चाहिए। परन्तु जो लोग हिंदी नहीं बोलते थे उनकी राय अलग थी। संविधान सभा में बोलते हुए टी.टी. कृष्णमाचारी ने "दक्षिण के लोगों की ओर से चेतावनी" देते हुए कहा कि अगर उन पर हिंदी थोपी गई तो वहाँ के बहुत सारे लोग भारत से अलग हो जाएँगे। इस विवाद से बचने के लिए आखिरकार बीच का रास्ता निकाल लिया गया। संविधान निर्माताओं ने हिंदी को भारत की "राजभाषा" का दर्जा दिया जबकि अदालतों, सेवाओं, विभिन्न राज्यों के बीच संचार आदि के लिए अंग्रेज़ी के इस्तेमाल का फैसला लिया गया।

संविधान की रचना में बहुत सारे भारतीयों ने योगदान दिया था। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण योगदान संभवत: डॉ. बी.आर. अंबेडकर का था जो संविधान सभा की प्रारूप समिति के अध्यक्ष थे और जिनके नेतृत्व में दस्तावेज़ को अंतिम रूप दिया गया था। संविधान सभा के सामने अपने आखिरी भाषण में डॉ. अंबेडकर ने कहा कि राजनीतिक लोकतंत्र के साथ-साथ आर्थिक और सामाजिक लोकतंत्र भी ज़रूरी है। यदि लोगों को वोट डालने का अधिकार दे दिया जाता है तो इससे अमीर-गरीब या ऊँची और नीची जातियों का फासला अपने-आप खत्म नहीं हो जाएगा। उन्होंने कहा कि नए संविधान के साथ भारत –

> अंतर्विरोधों के एक नए युग में प्रवेश करने जा रहा है। राजनीति में हमारे पास समानता होगी और सामाजिक व आर्थिक जीवन में हम असमानता की राह पर चलेंगे। राजनीति में हम एक व्यक्ति, एक

गतिविधि

अंग्रेज़ी को भारत की एक भाषा के रूप में बनाए रखने के फैसले के आज की तारीख में होने वाले एक फायदे और एक नुकसान पर अपनी कक्षा में चर्चा कीजिए।

वोट और एक मूल्य के सिद्धांत का पालन करेंगे। इसके विपरीत, अपनी सामाजिक एवं आर्थिक संरचना के फलस्वरूप हम सामाजिक और आर्थिक जीवन में एक व्यक्ति, एक मूल्य के सिद्धांत का निषेध करते रहेंगे।

राज्यों का गठन कैसे किया जाए?

1920 के दशक में स्वतंत्रता संघर्ष की मुख्य पार्टी – भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस – ने आश्वासन दिया था कि जैसे ही देश आज़ाद हो जाएगा, प्रत्येक बड़े **भाषायी** समूह का अपना अलग प्रांत होगा। आज़ादी मिलने के बाद कांग्रेस ने इस आश्वासन को पूरा करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया। क्योंकि भारत धर्म के आधार पर बँट चुका था इसलिए महात्मा गांधी की तमाम इच्छाओं और प्रयासों के बावजूद यह स्वतंत्रता एक राष्ट्र को नहीं बल्कि दो राष्ट्रों को मिल रही थी। देश विभाजन के फलस्वरूप हिंदुओं और मुसलमानों के बीच हुए भीषण दंगों में 10 लाख से ज़्यादा लोग मारे गए थे। ऐसे में यह चिंता स्वाभाविक थी कि क्या हमारा देश भाषा के आधार पर इस तरह के और बँटवारे झेल सकता था?

भाषायी – भाषा से संबंधित

प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और उप-प्रधानमंत्री वल्लभभाई पटेल, दोनों ही भाषा के आधार पर राज्यों के गठन की नीति के विरोधी थे। विभाजन के बाद नेहरू ने कहा था कि "उपद्रवकारी प्रवृत्तियाँ सिर उठा रही हैं" जिन पर अंकुश लगाने के लिए राष्ट्र को शक्तिशाली और एकजुट होना चाहिए। वरना, जैसा कि पटेल ने कहा :

> ...इस समय भारत की पहली और आखिरी ज़रूरत यह है कि उसे एक राष्ट्र बनाया जाए...। राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने वाली हर चीज़ आगे बढ़नी चाहिए और उसके रास्ते में रुकावट डालने वाली हर चीज़ को खारिज कर दिया जाना चाहिए...। हमने यही कसौटी भाषायी प्रांतों के सवाल पर भी अपनाई है और इस कसौटी के हिसाब से हमारी राय में (इस माँग को) समर्थन नहीं दिया जा सकता।

क्योंकि कांग्रेस के नेता अपने वायदे से पीछे हट रहे थे इसलिए जगह-जगह असंतोष पैदा हुआ। कन्नड़भाषी, मलयालम भाषी, मराठी भाषी, सभी अपने-अपने राज्य के इंतज़ार में थे। सबसे गहरा असंतोष मद्रास प्रेज़ीडेंसी के तेलुगू भाषी ज़िलों में दिखाई दिया। जब 1952 के आम चुनावों में नेहरू वहाँ चुनाव प्रचार के लिए गए तो लोगों ने उन्हें काले झंडे दिखाए और "हमें आंध्र चाहिए" के नारे लगाए। उसी साल अक्तूबर में वयोवृद्ध गांधीवादी पोट्टी श्रीरामुलु तेलुगूभाषियों के हितों की रक्षा के लिए आंध्र राज्य के गठन की माँग करते हुए भूख हड़ताल पर बैठ गए। जैसे-जैसे अनशन आगे बढ़ा, बहुत सारे लोग श्रीरामुलु के समर्थन में आगे आने लगे। जगह-जगह लोग हड़ताल करने लगे और जुलूस निकालने लगे।

चित्र 4 *– गांधीवादी नेता पोट्टी श्रीरामुलु।* तेलुगूभाषियों के लिए अलग राज्य की माँग करते हुए अनशन पर ही उनकी मृत्यु हो गई थी।

58 दिन के अनशन के बाद 15 दिसंबर 1952 को पोट्टी श्रीरामुलु का देहांत हो गया। जैसा कि एक अखबार ने लिखा था, "श्रीरामुलु के देहांत की खबर ने पूरे आंध्र को अस्त-व्यस्त कर डाला।" विरोध इतना व्यापक और गहरा था कि केंद्र सरकार को आखिरकार यह माँग माननी पड़ी। इस तरह, 1 अक्तूबर 1953 को आंध्र के रूप में एक नए राज्य का गठन हुआ, जो बाद में आंध्र प्रदेश बना।

आंध्र की स्थापना के बाद अन्य भाषायी समुदाय भी अपने-अपने अलग राज्यों की माँग करने लगे। फलस्वरूप, एक राज्य पुनर्गठन आयोग का गठन किया गया जिसने 1956 में अपनी रिपोर्ट सरकार को सौंप दी। आयोग ने सुझाव दिया कि असमिया, बंगला, उड़िया, तमिल, मलयालम, कन्नड़ और तेलुगू भाषियों के लिए अलग-अलग प्रांतों का गठन करने के उद्देश्य से जिलों और प्रांतों की सीमा को पुनः तय किया जाए। उत्तर भारत के विशाल हिंदी भाषी क्षेत्र को बाँट कर कई राज्य बना दिए गए। कुछ समय बाद, 1960 में बम्बई प्रांत को मराठी और गुजराती भाषी, दो अलग राज्यों में बाँट दिया गया। 1966 में पंजाब का विभाजन हुआ और हरियाणा को अलग राज्य के रूप में मान्यता दी गई। पंजाब में पंजाबी भाषियों (जिनमें से ज़्यादातर सिख थे) और हरियाणा में हरियाणवी या हिंदी बोलने वालों की बहुतायत थी।

चित्र 5 (क)
14 अगस्त 1947 से पहले भारतीय प्रांत और रियासतें।

* जब रियासतों के शासक भारत अथवा पाकिस्तान से जुड़ने के लिए मान गये या फिर हरा दिये गये तो उनकी रियासतें खत्म हो गईं। परन्तु 31 अक्तूबर 1956 तक कई ऐसी रियासतों को प्रशासनिक इकाइयों के रूप में बनाये रखा गया। इसीलिए 1947-48 से 31 अक्तूबर 1956 की कलावधि के लिए इन्हें भूतपूर्व रियासत कहा गया है।
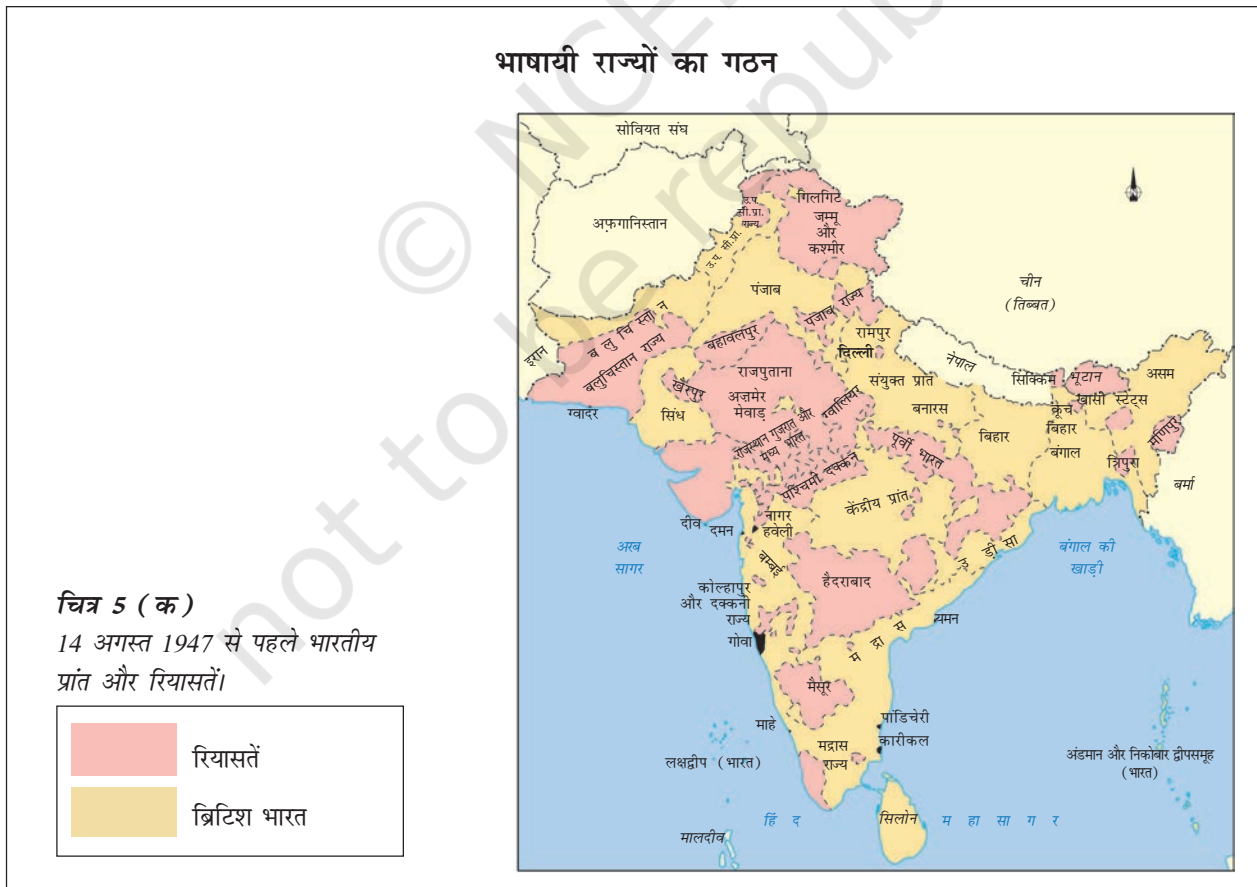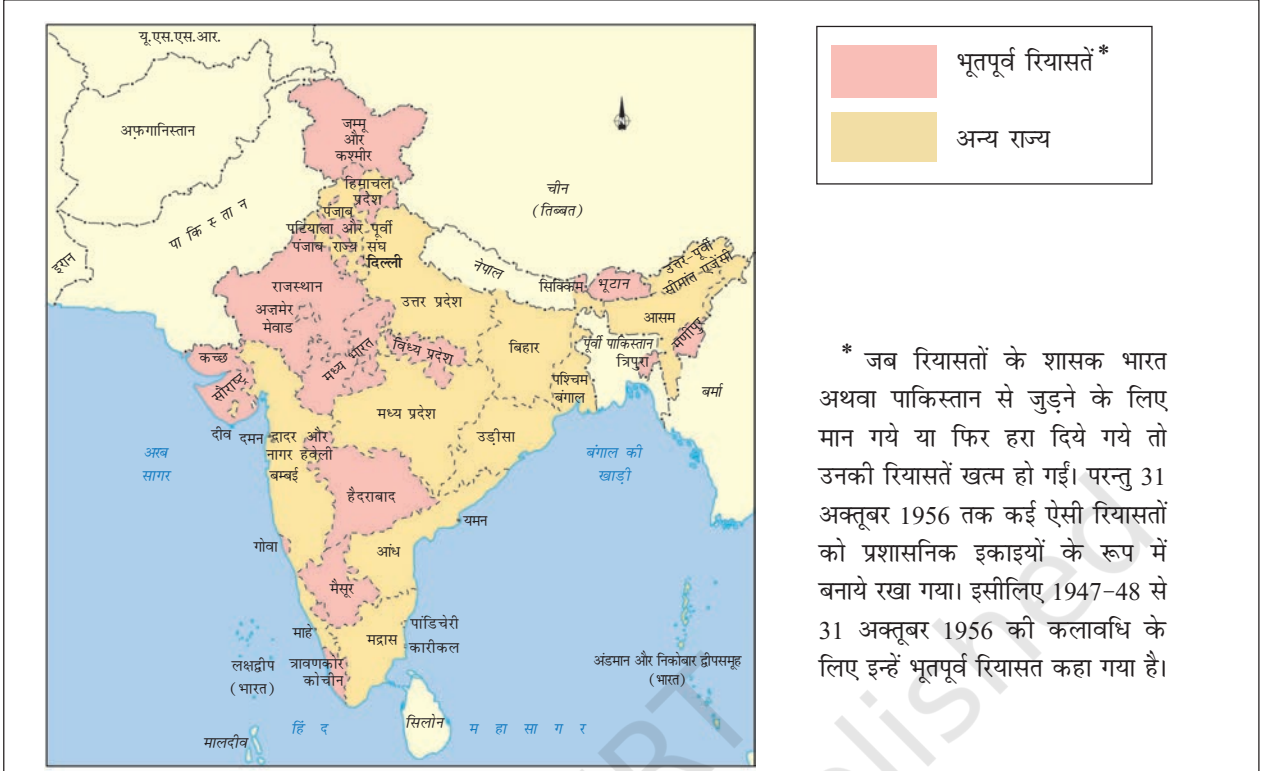
चित्र 5 (ख) – 1 नवंबर 1956 से पहले भारतीय राज्य।

गतिविधि

चित्र 5 (क), 5 (ख) और 5 (ग) को देखें। ध्यान दें कि चित्र 5 (ख) में रियासतें दिखाई नहीं दे रही हैं। उन राज्यों को पहचानें जिनका 1956 और बाद में गठन किया गया था। उन राज्यों की कौन सी भाषाएँ थीं?

चित्र 5 (ग) – 1975 में भारतीय राज्य।

चित्र 6 – महानदी के पानी को रोकने के लिए बनाया गया पुल।
स्वतंत्र भारत में पुल और बाँध विकास का प्रतीक बन गए थे।
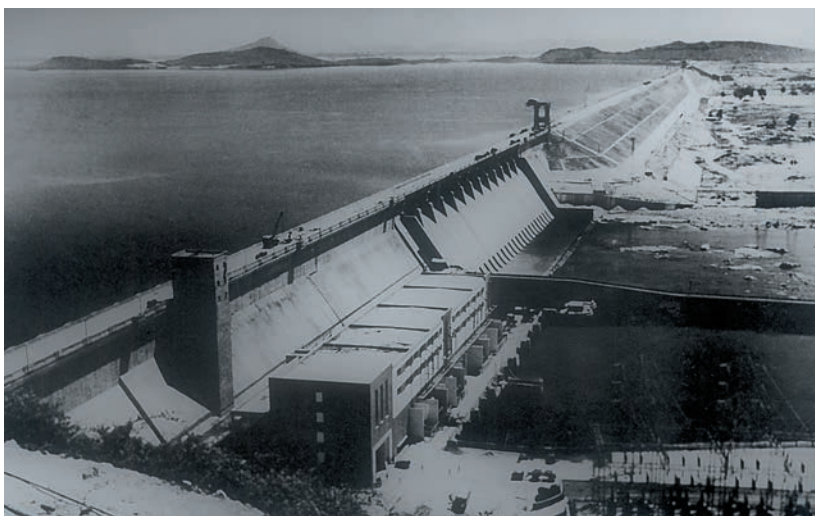
राज्य – सरकार से संबंधित (ध्यान दें कि 'राज्य' शब्द का यह अर्थ देश के विभिन्न राज्यों या प्रांतों से नहीं है)

विकास की योजनाएँ बनाना

भारत और भारतीयों को गरीबी से मुक्त कराने और आधुनिक तकनीकी एवं औद्योगिक आधार निर्मित करना नए भारत का एक बड़ा लक्ष्य था। 1950 में सरकार ने आर्थिक विकास के लिए नीतियाँ बनाने और उनको लागू करने के लिए एक 'योजना आयोग' का गठन किया। इस बारे में ज़्यादातर सहमति थी कि भारत "मिश्रित अर्थव्यवस्था" के रास्ते पर चलेगा। यहाँ **राज्य** और निजी क्षेत्र, दोनों ही उत्पादन बढ़ाने और रोज़गार पैदा करने में महत्त्वपूर्ण और परस्पर पूरक भूमिका अदा करेंगे। किस क्षेत्र की क्या भूमिका होगी – अर्थात कौन से उद्योग सरकार द्वारा और कौन से उद्योग बाजार द्वारा यानी निजी उद्योगपतियों द्वारा लगाए जाएँगे, विभिन्न क्षेत्रों और राज्यों के बीच किस तरह का संतुलन बनाया जायेगा इन सबको परिभाषित करना योजना आयोग का काम था।

चित्र 7 – गांधीसागर बाँध पर चल रहा काम।
मध्य प्रदेश स्थित चम्बल नदी पर बनाए गए चार बाँधों में से यह पहला था। इसका निर्माण 1960 में पूरा हुआ।
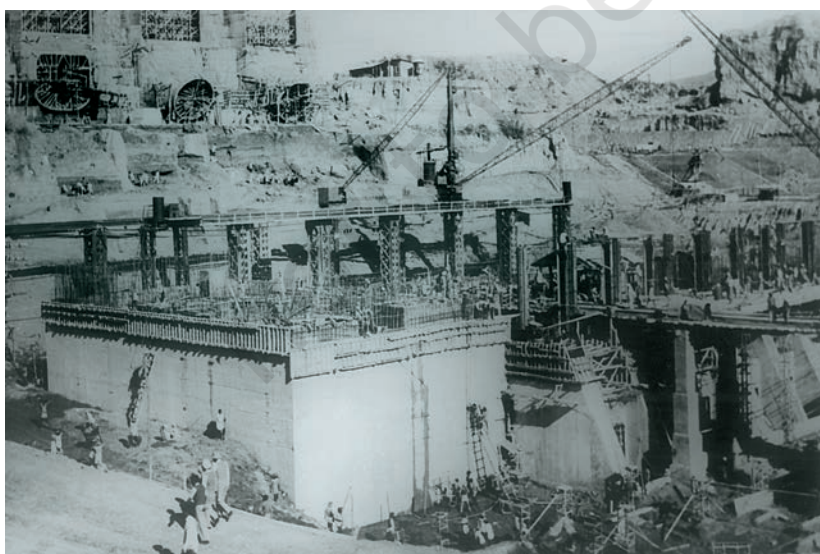
1956 में दूसरी पंचवर्षीय योजना तैयार की गई। इस योजना में इस्पात जैसे भारी उद्योगों और विशाल बाँध परियोजनाओं आदि पर सबसे ज़्यादा जोर दिया गया। ये काम सरकारी नियंत्रण के अंतर्गत रखे गए। भारी उद्योग पर यह ज़ोर और अर्थव्यवस्था की राज्य नियंत्रण की कोशिशें अगले कुछ दशकों तक आर्थिक नीति को प्रभावित करती रहीं। इस पद्धति के बहुत सारे समर्थक थे तो कुछ मुखर विरोधी भी थे। कुछ लोगों को लगता था कि इस प्रणाली में खेती पर पर्याप्त ज़ोर नहीं दिया जा रहा है।

स्रोत 2

पंचवर्षीय योजनाओं पर नेहरू के विचार

प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू योजना प्रक्रिया के भारी समर्थक थे। उन्होंने विभिन्न राज्यों के मुख्यमंत्रियों के नाम लिखे अपने पत्रों में नियोजन के आदर्शों और उद्देश्यों की व्याख्या की है। 22 दिसंबर 1952 के एक पत्र में उन्होंने लिखा था :

> ...पंचवर्षीय योजना के पीछे भारत की एकता और देश के विभिन्न जन-समूहों के विराट आपसी सहयोग की अवधारणा निहित है...। हमें यह बात हमेशा याद रखनी चाहिए कि इस प्रक्रिया में सिर्फ सरकारी तंत्र का ही महत्व नहीं होता बल्कि जनता के उत्साह और सहयोग का महत्व इससे भी ज़्यादा है। हमारे लोगों को एक विशाल उद्यम में साझेदारी का उत्साह, उन्हें अपने अगले उद्देश्य की ओर बढ़ते सहयात्री जैसा अहसास होना चाहिए। बेशक योजना बहुत सारे अर्थशास्त्रियों, सांख्यिकी विशेषज्ञों और ऐसे ही दूसरे लोगों की गणनाओं पर आधारित हो सकती है, और होगी। परंतु केवल आंकड़ों और संख्याओं से हालाँकि ये महत्त्वपूर्ण है, ये किसी योजना में जीवन पैदा नहीं करते। जीवन का यह उच्छ्‌वास तो कहीं और से आता है। अब यह हमारी ज़िम्मेदारी है कि ठंडे अक्षरों में लिखी योजना को एक ऐसा जीवंत, गतिशील उद्यम बना दें कि वह लोगों की कल्पनाओं को साकार कर सके।

चित्र 8 – भिलाई इस्पात संयंत्र में जवाहरलाल नेहरू।

भिलाई स्थित इस्पात कारखाने की स्थापना 1959 में तत्कालीन सोवियत संघ की सहायता से की गई थी। छत्तीसगढ़ के पिछड़े ग्रामीण इलाके में स्थित यह कारखाना आधुनिक भारत के विकास का एक महत्त्वपूर्ण प्रतीक बन गया था।

कुछ लोगों का कहना था कि प्राथमिक शिक्षा की उपेक्षा हो रही है। कुछ अन्य लोगों का मानना था कि आर्थिक नीतियों के कारण पर्यावरण पर पड़ रहे प्रभावों पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। महात्मा गांधी की अनुयायी मीरा बहन ने 1949 में लिखा था, "विज्ञान और मशीनरी के द्वारा उसे (मानवता को) कुछ समय तक भारी फायदा हो सकता है लेकिन आखिरकार तबाही ही मिलेगी। हमें कुदरत के संतुलन का अध्ययन करके उसके नियमों के हिसाब से अपनी ज़िंदगी चलानी चाहिए, तभी हम स्वस्थ और नैतिक रूप से सभ्य प्रजाति के रूप में जीवित रह पाएँगे।"

गतिविधि

क्या मीरा बहन की यह मान्यता सही थी कि विज्ञान और मशीनरी मानव सभ्यता के लिए समस्याएँ खड़ी कर देंगे। इस बात पर अपनी कक्षा में चर्चा कीजिए। इस चर्चा के लिए आप औद्योगिक प्रदूषण और जंगलों के विनाश से हमारी दुनिया पर पड़ रहे प्रभावों जैसे उदाहरणों के बारे में सोच सकते हैं।

एक स्वतंत्र विदेश नीति की चाह

चित्र 9 – संयुक्त राष्ट्र में जवाहरलाल नेहरू और कृष्णा मेनन।

कृष्णा मेनन ने 1952 से 1962 के बीच संयुक्त राष्ट्र में भारतीय प्रतिनिधि मंडलों का नेतृत्व किया और गुटनिरपेक्षता की नीति के पक्ष में आवाज़ उठाई।

जिस समय भारत को आज़ादी मिली तब तक दूसरे विश्व युद्ध की तबाही को कुछ ही समय हुआ था। 1945 में गठित की गई नई अंतर्राष्ट्रीय संस्था – संयुक्त राष्ट्र – अभी अपने शैशवकाल में थी। 1950 और 1960 के दशकों में शीत युद्ध का उदय हुआ, शक्तिशाली देशों के बीच प्रतिद्वंद्विता पैदा हुई और अमरीका व सोवियत संघ के बीच वैचारिक टकराव गहरे होते गए। फलस्वरूप दोनों देशों ने अपने-अपने समर्थक देशों को मिलाकर सैनिक गठबंधन बना लिए। यही समय था जब औपनिवेशिक साम्राज्य ध्वस्त हो रहे थे और बहुत सारे देश स्वतंत्रता प्राप्त कर रहे थे। प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू नवस्वाधीन भारत के विदेश मंत्री भी थे। उन्होंने इस संदर्भ में स्वतंत्र भारत की विदेश नीति की रूपरेखा तैयार की। गुटनिरपेक्ष आंदोलन इसी विदेश नीति का मूल आधार था।

मिस्र, यूगोस्लाविया, इंडोनेशिया, घाना और भारत के राजनेताओं के नेतृत्व में गुटनिरपेक्ष आंदोलन में दुनिया के देशों से आह्वान किया कि वे इन दोनों मुख्य सैनिक गठबंधनों में शामिल न हों। परंतु गठबंधनों से दूर रहने की इस नीति का मतलब "अलग-थलग" या "तटस्थ" रहना नहीं था। अलग-थलग रहने का मतलब था कि विभिन्न देश अंतर्राष्ट्रीय मामलों से दूर रहें जबकि भारत जैसे गुटनिरपेक्ष देश तो अमेरिकी और सोवियत गठबंधनों के बीच सुलह-सफाई में एक अहम भूमिका अदा कर रहे थे। इन देशों ने युद्ध को टालने के प्रयास किए और अकसर युद्ध के खिलाफ मानवतावादी और नैतिक रवैया अपनाया। परंतु विभिन्न कारणों से भारत सहित बहुत सारे गुटनिरपेक्ष देशों को युद्ध का सामना करना पड़ा।

1970 के दशक तक बहुत सारे देश गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सदस्य बन चुके थे।

चित्र 10 – बांडुंग, इंडोनेशिया में एशिया और अफ्रीका के नेताओं की बैठक, 1955

इस प्रसिद्ध सम्मेलन में 29 से ज़्यादा नवस्वाधीन देशों के प्रतिनिधियों ने इस बात की चर्चा की थी कि अफ्रीका-एशिया के देश उपनिवेशवाद और पश्चिमी प्रभुत्व के विरुद्ध अपने प्रयास किस तरह जारी रख सकते हैं।

राष्ट्र के साठ वर्षों के बाद

15 अगस्त 2007 को हमने एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अपनी साठवीं वर्षगाँठ मनाई थी। इस दौरान हमारे देश का प्रदर्शन कैस रहा? संविधान में तय किए गए आदर्शों को हम किस हद तक साकार कर पाए?

भारत अभी भी एक है और लोकतांत्रिक राह पर चल रहा है। यह गर्व करने लायक उपलब्धि है। बहुत सारे विदेशी प्रेक्षकों का मानना था कि भारत एक देश के रूप में ज़्यादा समय तक टिक नहीं पाएगा। उन्हें लगता था कि भारत का प्रत्येक क्षेत्र या भाषायी समूह अपने अलग राष्ट्र की माँग करेगा और उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगे। कुछ विशेषज्ञों को लगता था कि भारत सैनिक शासन के कब्ज़े में आ जाएगा। परंतु ये सारी आशंकाएँ निर्मूल साबित हुई हैं। आज़ादी से अब तक 13 आम चुनाव हो चुके हैं और राज्यों तथा स्थानीय निकायों के लिए सैकड़ों चुनाव हो चुके हैं। हमारे यहाँ स्वतंत्र प्रेस है और एक स्वतंत्र न्यायपालिका है। इसके अलावा, यहाँ के लोगों की भाषायी विविधता या धार्मिक विविधता भी राष्ट्रीय एकता की राह में रुकावट नहीं बन पाई है।

परंतु दूसरी ओर यह भी सच है कि आज भी हमारे देश में गहरे मतभेद बने हुए हैं। संवैधानिक गारंटियों के बावजूद अछूत समुदाय – या जिन्हें अब दलित कहा जाता है – आज भी हिंसा और भेदभाव से जूझ रहे हैं। ग्रामीण भारत के बहुत सारे भागों में अभी भी वे साझा जल स्रोतों, मंदिरों, मैदानों और अन्य सार्वजनिक स्थानों का इस्तेमाल नहीं कर सकते। संविधान में दिए गए धर्मनिरपेक्ष आदर्शों के बावजूद बहुत सारे राज्यों में विभिन्न धार्मिक समूहों के बीच कई बार टकराव हो चुके हैं। और सबसे परेशानी की बात यह है कि इस बीच अमीर और गरीब का फासला लगातार बढ़ता गया है। भारत के कुछ भागों और कुछ समूहों को आर्थिक विकास से भारी फायदा हुआ है। वे आलीशान घरों में रहते हैं, मँहगे रेस्टोरेंट्स में खाना खाते हैं, अपने बच्चों को मँहगे निजी स्कूलों में भेजते हैं और विदेशों में छुट्टियों पर बेहिसाब पैसा उड़ाते हैं। दूसरी ओर बहुत सारे लोग आज भी गरीबी की रेखा से नीचे हैं। शहरी झुग्गी बस्तियों या बंजर देहात में रहने वाले ऐसे बहुत सारे लोग अपने बच्चों को स्कूल भी नहीं भेज पाते।

चित्र 11 – *बम्बई स्थित धारावी दुनिया की सबसे बड़ी झुग्गी बस्तियों में से एक है।* इसके दूर वाले सिरे पर आप गगनचुंबी इमारतें देख सकते हैं।

हमारा संविधान कानून की नज़र में सबको बराबर मानता है लेकिन असली ज़िंदगी में कुछ भारतीय औरों के मुकाबले ज़्यादा बराबर हैं। स्वतंत्रता के समय तय की गई कसौटियों के हिसाब से देखें तो भारतीय गणतंत्र बहुत बड़ी सफलता का दावा नहीं कर सकता। लेकिन यह भी सच है कि वह विफल नहीं हुआ है।

अन्यत्र

श्रीलंका में क्या हुआ

1956 में, जिस समय भारत में भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया जा रहा था, उसी समय श्रीलंका (तत्कालीन नाम सीलोन) की संसद ने एक कानून पारित करके सिंहला भाषा को देश की राजभाषा का दर्जा दे दिया। इस कानून के जरिए सिंहला भाषा को सभी सरकारी स्कूल-कॉलेजों, सरकारी परीक्षाओं और अदालतों की भाषा बना दिया गया। श्रीलंका के उत्तर में रहने वाले तमिलभाषी अल्पसंख्यकों ने इस नए कानून का विरोध किया। एक तमिल सांसद ने कहा कि "जब आप मुझसे मेरी भाषा छीन लेते हैं तो आप मेरा सब कुछ मुझसे छीन लेते हैं।" एक और नेता ने चेतावनी दी, "आप सीलोन को बाँटना चाहते हैं। निश्चिंत रहिए। मैं आश्वासन देता हूँ कि (आपको) एक विभाजित सीलोन ही मिलेगा।" सिंहला भाषी एक विपक्षी सदस्य ने कहा था कि अगर सरकार अपना रुख नहीं बदलती है और इस कानून पर अड़ी रहती है तो "इस छोटे से देश में से दो टूटे-फूटे रक्तरंजित देश भी पैदा हो सकते हैं।"

चि 12 (ख) – बंदूक लिए हुए तमिल उग्रवादी– श्रीलंका में गृहयुद्ध का प्रतीक।

पिछले कई दशकों से श्रीलंका में गृह युद्ध चल रहा है जो इसी कारण पैदा हुआ कि वहाँ के तमिलभाषी अल्पसंख्यकों पर सिंहला भाषा थोपी जा रही है। और एक अन्य दक्षिण एशियाई देश – पाकिस्तान – भी इसलिए दो टुकड़ों में बँट गया था क्योंकि पूर्वी पाकिस्तान के बंगला भाषी लोगों को लगता था कि पाकिस्तान में उनकी भाषा को दबाया जा रहा है। इसके विपरीत भारत एकीकृत राष्ट्र के रूप में कायम रहा है। कुछ हद तक इसलिए कि यहाँ बहुत सारी क्षेत्रीय भाषाओं को फलने-फूलने का मौका दिया गया। अगर हिंदी को उसी तरह दक्षिणी भारत पर थोप दिया जाता जिस तरह पूर्वी पाकिस्तान पर उर्दू या उत्तरी श्रीलंका पर सिंहला भाषा को थोप दिया गया था तो शायद भारत भी गृह युद्धों में उलझ कर बिखर जाता। जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल की आशंकाओं को निर्मूल साबित करते हुए भाषायी राज्यों ने भारत की एकता के लिए कभी खतरा पैदा नहीं किया बल्कि उन्होंने इस एकता को और गहराई दी है। इससे पता चलता है कि जब एक बार अपनी भाषा के दबने का भय खत्म हो जाता है तो विभिन्न भाषायी समूह एक विशाल राष्ट्र के अंग के रूप में सहज आगे बढ़ने लगते हैं।

आइए कल्पना करें

आप एक आदिवासी तथा एक आरक्षण-विरोधी व्यक्ति की बहस सुन रहे हैं। कल्पना कीजिए कि दोनों व्यक्ति अपनी ओर से क्या दलील दे रहे होंगे? इस चर्चा को अभिनय करके दिखाइए।

फिर से याद करें

1. नवस्वाधीन भारत के सामने कौन सी तीन समस्याएँ थीं?
2. योजना आयोग की क्या भूमिका थी?
3. रिक्त स्थान भरें :

   (क) केंद्रीय सूची में ......, ... और ...... विषय रखे गए थे।

   (ख) समवर्ती सूची में ...... और ...... विषय रखे गए थे।

   (ग) वह आर्थिक योजना जिसमें सरकारी और निजी, दोनों क्षेत्रों को विकास में भूमिका दी गई थी, उसे ...... मॉडल कहा जाता था।

(घ) ...... की मृत्यु से इतना ज़बरदस्त आंदोलन पैदा हुआ कि सरकार को आंध्र भाषी राज्य के गठन की माँग को मानना पड़ा।

4. सही या गलत बताएँ :

(क) आज़ादी के समय ज़्यादातर भारतीय गाँवों में रहते थे।

(ख) संविधान सभा कांग्रेस पार्टी के सदस्यों से मिलकर बनी थी।

(ग) पहले राष्ट्रीय चुनावों में केवल पुरुषों को ही वोट डालने का अधिकार दिया गया था।

(घ) दूसरी पंचवर्षीय योजना में भारी उद्योगों के विकास पर जोर दिया गया था।

आइए विचार करें

5. "राजनीति में हमारे पास समानता होगी और सामाजिक व आर्थिक जीवन में हम असमानता की राह पर चलेंगे" कहने के पीछे डॉ. अंबेडकर का क्या आशय था?

6. स्वतंत्रता के बाद देश को भाषा के आधार पर राज्यों में बाँटने के प्रति हिचकिचाहट क्यों थी?

7. एक कारण बताइए कि आज़ादी के बाद भी भारत में अंग्रेज़ी क्यों जारी रही।

8. आज़ादी के बाद प्रारंभिक दशकों में भारत के आर्थिक विकास की कल्पना किस तरह की गई थी?

आइए करके देखें

9. मीरा बहन कौन थीं? उनके जीवन और आदर्शों के बारे में पता लगाएँ।

10. पाकिस्तान में भाषा के आधार पर हुए उन विवादों के बारे में और पता लगाएँ जिनकी वजह से बांगलादेश का जन्म हुआ। बांगलादेश को पाकिस्तान से आज़ादी कैसे मिली?

श्रेय

संस्थाएँ

दि ओसियन आर्काइव एण्ड लाइब्रेरी कलेक्शन, मुंबई (अध्याय 7 चित्र 1, 8)

नेहरू मेमोरियल म्यूज़ियम एण्ड लाइब्रेरी, नई दिल्ली (अध्याय 9 चित्र 4, 5, 7, 13; अध्याय 12 चित्र 1, 2, 4, 6, 7, 9)

फोटो डिवीज़न, भारत सरकार, नई दिल्ली (अध्याय 11 चित्र 20; अध्याय 12 चित्र 3,10)

पत्रिकाएँ

दि इलस्ट्रेटिड लंदन न्यूज़ (अध्याय 9 चित्र 15)

पुस्तकें

अमन नाथ एवं जय विठलानी, *होरिजंस : दि टाटा- इंडिया सेंचुरी, 1904-2004* (अध्याय 7 चित्र 10, 14, 15)

सी.ए.बेयली, सं., *एन इलस्ट्रेटिड हिस्ट्री ऑफ माडर्न इंडिया, 1600-1947* (अध्याय 7 चित्र 11; अध्याय 8 चित्र 2, 4, 6; अध्याय 10 चित्र 6, 7, 17, 22; अध्याय 11 चित्र 3, 4, 5, 10)

जान ब्रेमेन, *लेबर बॉण्डेज इन वेस्टर्न इंडिया* (अध्याय 9 चित्र 11)

ज्योतिन्द्र जैन एवं आरती अग्रवाल, *नेशनल हेंडीक्राफ्ट्स एण्ड हेण्डलूम म्यूजियम,* नई दिल्ली, मेपिन (अध्याय 7 चित्र 4, 5)

मालविका कारलेकर, *री-विज़निंग दि पास्ट* (अध्याय 9 चित्र 6, 8; अध्याय 8 चित्र 11)

मारिना कार्टर, *सरवेंट्स, सरदार्स एण्ड सेटलर्स* (अध्याय 9 चित्र 9)

पीटर रूहे, *गांधी* (अध्याय 11 चित्र 1, 6, 12, 13, 14, 16, 17, 18, 19, 21)

सूज़न एस. बीन, *यैंकी इंडिया : अमेरिकन कॉमर्शियल एंड कल्चरल एनकाउंटर्स विद इंडिया इन दि एज ऑफ सेल, 1784-1860* (अध्याय 9 चित्र 3, 7)

सूज़न स्ट्राँग, सं., *दि आर्ट्स ऑफ द सिख किंग्डम* (अध्याय 10 चित्र 19)

यू. बॉल, *जंगल लाइफ इन इंडिया* (अध्याय 7 चित्र 12)

वेरियर एल्विन, द *एगारिया* (अध्याय 7 चित्र 13)

टैक्सटाइल्स फॉर टेम्पिल ट्रेड एंड डॉवरी, कलेक्शन संस्कृति म्यूज़ियम ऑफ एवरीडे आर्ट (अध्याय 7 चित्र 2, 6)